श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

सत्सङ्गमः

(श्रीहरिभक्तिविलासियो दशमविलासः)

श्रीहरिदास शास्त्री

❀ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ❀

सत्सङ्गमः

(श्रीहरिभक्तिविलासियो दशमविलासः)

श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन न्यायवैशेषिकशास्त्रि, नव्यन्यायाचार्य्य,
काव्यव्याकरणसांख्यमीमांसा वेदान्ततर्कतर्कतर्क
वैष्णवदर्शनतीर्थाद्युपाध्यलङ्कृतेन
श्रीहरिदासशास्त्रिणा
सम्पादितः ।

सद्ग्रन्थ प्रकाशन :—
श्रीहरिदास शास्त्री
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस,
श्रीहरिदास निवास, कालीदह, पो० वृन्दावन ।
जिला-मथुरा (उत्तर प्रदेश)
पिन २८११२१
श्रीगौराङ्गाब्द ४६८

श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

प्रकाशक * मुद्रकः—

श्रीहरिदास शास्त्री
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस,
श्रीहरिदास निवास, कालीदह,
पो० वृन्दावन, जिला—मथुरा,
(उत्तर प्रदेश) पिन—२८११२१

प्रथमसंस्करणम्—एकसहस्रम्

प्रकाशन सहयोग—२०.००

प्रकाशनतिथि
श्रीजगन्नाथदेवकी स्नानयात्रा
१३।६।८४

श्रीगौराङ्गाब्द ४९८

॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

विज्ञप्ति

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीहरिभक्तिविलासीय दशम विलासात्मक अंश विशेष है। इस विलास का अपर नाम "सत्सङ्गमः" है। सर्वैश्वर्य्यमाधुर्य्यपूर्ण स्वीय अत्याश्चर्य्य लीला द्वारा चराचर विश्व का आकर्षणकारी परम प्रेमास्पद असाधारण प्रेमशक्ति सम्पन्न स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रीहरि शब्द का वाच्य हैं। तद्विषयिणी भक्ति-रुचिकर परिचर्य्या का विलास-वैचित्र्य वहिर्विलास का सम्यक् अङ्कन प्रस्तुत ग्रन्थ में होने के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम श्रीहरिभक्ति विलास है।

निर्निमित्त परोपकार हेतु जिन्होंने स्वीय विभूति, जीवन, एवं सुख को परम करुण विश्वस्रष्टा के चरणों में अर्पण किये हैं, वे ही सत् शब्द वाच्य हैं। उनके सहित संयोग ही सत्सङ्ग है, अनुशासन एवं मङ्गलोपदेशात्मक शास्त्र का ग्रहण सत् शब्द से मुख्यतया होता है, द्वितीयतः शास्त्रोपदेश को जीवातु मानकर जो मानव, स्वीय शास्त्रानुभूत विमल शिक्षा प्रदान के द्वारा हिंसा विद्वेषादि का अपसारण मानव हृदय करते रहते हैं, उनको भी सत् कहते हैं।

शुद्ध भक्ति ही परमोपादेय वस्तु है, इसमें ही प्राणिमात्र सुखपूर्वक अवस्थान कर सकते हैं। परोत्कर्षासहनी बुद्धिशून्य प्राणिमात्र के प्रति ऐकान्तिकी दयापरायण व्यक्ति ही उक्त उत्तमाभक्ति का अधिकारी होता है। भक्तिरसामृतसिन्धु के १।१।६ में शुद्धाभक्ति का लक्षण लिखित है—

"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥"

सर्वैश्वर्य्यमाधुर्य्यपूर्ण, स्वीय अत्याश्चर्य्य लीला द्वारा चराचर विश्व का आकर्षणकारी, परमप्रेमास्पद स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के निमित्त अथवा श्रीकृष्ण सम्बन्धि विश्ववस्तुसमूह के प्रति आनुकूल्यमय अनुशीलन ही उत्तमाभक्ति अथवा उत्तमाभक्ति का स्वरूप लक्षण है। जो जिस प्रकार होता है, वह ही उसका स्वरूप होता है। स्वरूप का परिचायक जो लक्षण—अर्थात् जो लक्षण स्वरूप का परिचय प्रदान करता है, वह ही उसका स्वरूप लक्षण अथवा मुख्य विशेषण है। 'अनुशीलन' शब्द 'शील' धातु से उत्पन्न हुआ है। क्रिया शब्द के द्वारा जिस प्रकार कृ धातु का अर्थ बोध ही होता है, अनुशीलन शब्द के द्वारा भी उस प्रकार 'शील' धातु का अर्थमात्र ही उक्त होता है। 'शील' धातु का अर्थ शीलन, शील धातु अन प्रत्यय योग से निष्पन्न उक्त शब्द से अभ्यास, आलोचना, परिदर्शन, प्रवर्त्तन अर्थ होते हैं। वह शीलन, प्रवृत्त्यात्मक एवं निवृत्त्यात्मक भेद से द्विविध हैं। शारीर, मानस वाचिक चेष्टा, एवं प्रीतिविषयात्मक प्रसिद्ध मानस भाव है। भाव शब्द का अर्थ—वृत्ति है, मानस-भाव शब्द का अर्थ—मनोवृत्ति है। प्रसिद्ध मानसभाव शब्द से स्थायी एवं सञ्चारी भावसमूह का बोध होता है। प्रीति विषादात्मक शब्द का अर्थ—रागात्मक एवं द्वेषात्मक है। वाचिक चेष्टा-कीर्त्तन, मानस चेष्टा-स्मरण, शारीर चेष्टा-श्रवणादि हैं। निवृत्त्यात्मक चेष्टा से त्यागात्मक चेष्टा का बोध होता है। प्रवृत्त्यात्मक चेष्टा शब्द से-ग्रहणात्मक चेष्टा का बोध होता है। आनुकूल्यमय का अर्थ रुचिकर है। अतएव साक्षात् श्रीकृष्ण के निमित्त, अथवा श्रीकृष्ण सम्बन्धि वस्तु के प्रति, अर्थात् परम्परा क्रम से तन्निमित्त जो कुछ शारीरादि चेष्टा, एवं भाव, यह यदि भजनीय के अरुचिकर न होकर रुचिकर होता है, तब यह परिचर्य्या, सेवा, वरिवस्या, सद्व्यवहार प्रभृति भक्ति शब्द से कथित होते हैं। अरुचिकर चेष्टा का अथवा भाव का, किन्तु निजमनोऽनुकूल आचरण का भक्तित्व सिद्ध नहीं होता है, अर्थात् वह भक्ति नहीं है, वह आत्मम्भरिता है।

यह भक्ति—सोपाधिकी निरुपाधिकी भेद से द्विविधा हैं। भक्ति की दो उपाधि हैं, एक अन्याभिलाष, अपर अन्य मिश्रण। उपाधि विशिष्टा भक्ति को सोपाधिकी अथवा गौणी भक्ति कहते हैं, एवं उपाधिशून्या भक्ति को निरुपाधि अथवा मुख्या भक्ति कहते हैं। मूललक्षणस्थ उत्तमा शब्द का अर्थ मुख्या है। अतएव पूर्वोक्त अनुशीलन, अन्याभिलाष शून्य एवं अन्य मिश्रण शून्य होता है तो उसको उत्तमा भक्ति कहेंगे। उक्त भक्ति का यह तटस्थलक्षण अथवा गौण विशेषण है।

अन्याभिलाष शब्द से—भोगवासना एवं मोक्षवासना प्रभृति को जानना होगा। अन्यमिश्रण शब्द से ज्ञानकर्मादि के आचरण का बोध होता है। ज्ञान—जीवब्रह्मैक्य ज्ञान, कर्म—स्मृतिशास्त्रोक्त नित्य-नैमित्तिकादि कर्म, शुष्कवैराग्य, सांख्य एवं अष्टाङ्गयोग प्रभृति को जानना होगा। अतएव पूर्वोक्त अनुशीलन यदि भुक्ति मुक्ति कामना रहित होकर केवल श्रवण कीर्त्तनादिमय होता है तो, उसको उत्तमाभक्ति कहेंगे। यह उत्तमाभक्ति, निर्गुणा, शुद्धा, केवला, मुख्या, अनन्या, अकिञ्चना, एवं स्वरूपसिद्धा नाम से अभिहिता हैं। मुक्तिसाधकज्ञानादि का मिश्रण न होने पर एवं भक्तिभिन्न अन्याभिलाष का सम्पर्क न होने से भक्ति का उत्तमत्व अथवा शुद्धत्व सिद्ध होता है।

भोगवासना युक्ता भक्ति का नाम सकामा भक्ति है। मोक्षवासना युक्त भक्ति का नाम निष्कामा भक्ति है। तामस राजस गुण सम्पन्न होने के कारण सकामा भक्ति का अपर नाम सगुणा भक्ति है। उस भक्ति के अधिकारी आर्त्त एवं अर्थार्थी व्यक्तिगण हैं एवं स्वर्गादि भोग ही उसका फल है। उक्त सकामा भक्ति, सत्त्वगुण युक्त होने से मोक्ष वासनायुक्त होती है। तब उसका नाम निष्कामा होती है। मुमुक्षु व्यक्तिगण इसके अधिकारी हैं। यह मोक्ष वासना युक्ता निष्कामा भक्ति प्रायकर ज्ञान, योग एवं कर्म द्वारा मिश्रित होती है।

कर्म मिश्रा होने से कर्ममिश्रा, योग मिश्रा होने से योगमिश्रा एवं ज्ञान मिश्रा होने से इसको ज्ञान-मिश्रा भक्ति कहते हैं।

कर्ममिश्रा भक्ति का फल चित्तशुद्धि है, योगमिश्रा भक्ति का फल परमात्मसाक्षात्कार के अनन्तर क्रममुक्ति है, एवं ज्ञानमिश्रा भक्ति का फल ब्रह्मसाक्षात्कार के पश्चात् सद्योमुक्ति है।

कर्ममिश्रा भक्ति के अन्तर्गत निष्काम कर्मसमूह, साक्षात् भक्ति न होने पर भी, भक्ति का फल, चित्तशुद्धि उत्पादन द्वारा भक्तित्व का आरोप से सिद्ध अर्थात् भक्ति के आकार से आकारित होने के कारण उसको आरोपसिद्धा भक्ति कहते हैं। उस प्रकार योगमिश्रा भक्ति के अङ्गीभूत आसन प्राणायामादि क्रिया समूह एवं ज्ञानमिश्रा भक्ति के अङ्गीभूत जीवब्रह्मैक्य ज्ञान, साक्षात् भक्ति न होकर भी भक्ति के सङ्ग सिद्ध है, अर्थात् भक्ति का फल मोक्ष उत्पादन के द्वारा भक्ति के आकाराकारिता होने के कारण उक्त विषय समूह को सङ्गसिद्धा कहते हैं।

गुणराहित्यहेतु उत्तमाभक्ति निर्गुण है, एवं उक्त अपरापर भक्तिसमूह से सम्पूर्ण पृथक है। कर्म, योग, ज्ञान, उत्तमाभक्ति के अधीन हैं, भक्तिमुखापेक्षी हैं। उत्तमाभक्ति कर्मज्ञानादिका अधीन, अथवा मुखापेक्षी नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण स्वाधीन है। उत्तमाभक्ति, स्वीय स्वातन्त्र्य से ही निष्काम कर्मफल, चित्तशुद्धि, योग का फल—क्रममुक्ति, एवं स्वरूपानुसन्धानात्मक ज्ञान का फल सद्योमुक्ति को प्रदान तो करती ही है अधिकन्तु श्रीभगवत्साक्षात्कार प्रभृति फलसमूह प्रदान भी करती है।

यद्यपि उत्तमाभक्ति के श्रवणकीर्त्तनादि अङ्गसमूह कर्मरूप में, भजनीयत्वानुसन्धानादि अङ्ग-समूह, ज्ञानरूप में, एवं न्यासमुद्रादि अङ्गसमूह, योग रूप में प्रतीत होते हैं, तथापि वे सब प्रसिद्ध कर्म, ज्ञान, योग नहीं हैं। वे सब श्रीभगवान् की सच्चिदानन्दमयी स्वरूपशक्ति की परमावृत्ति हैं। श्रीभगवान् में नित्यसिद्ध

स्वरूपशक्तिसमूह ही उक्त वृत्तिसमूह के मूलाश्रय हैं। तटस्थ शक्तिरूपा जीवशक्ति जिस प्रकार अन्तरङ्गा वहिरङ्गा शक्ति के सहित मिलित होने की योग्यता सम्पन्ना है। उस प्रकार साधक जीव के श्रवणादि इन्द्रियसमूह सिद्ध एवं साधक के एकत्र सम्मिलन क्षेत्र रूप में ही निर्मित हैं। साधकवृन्द के इन्द्रियसमूह उक्त सम्मिलन क्षेत्र रूप में निर्मित न होने पर असिद्ध होते, अर्थात् सिद्धगण के सहित एकत्र सम्मिलन की अयोग्यतावशतः उक्त साधकवृन्द का सिद्धत्व होने की सम्भावना ही नहीं होती। नित्यसिद्ध स्वरूपशक्ति की वृत्ति समूह, असिद्ध साधक को आकर्षणार्थ उनकी इन्द्रियवृत्ति में अवतीर्ण होकर एवं उसके सहित एकीभूत होकर तत्तदाकार में आकारित होकर श्रवण आदि रूप में आविर्भूत होते हैं।

स्वरूपशक्तिभूत आनन्दमयी वृत्ति के अवतरण से ही श्रवण कीर्त्तनादि, साधक के पक्ष में आनन्द दायक होते हैं। इन्द्रियवृत्ति में प्रकाशित देखकर ही मानव, उन सबको ज्ञानादि कर्म रूप में अनुभव करते हैं। वस्तुतः भगवदीय नाम रूप गुणलीला के श्रवण-कीर्त्तनादि ज्ञान कर्मादि के अतीत आनन्दमय वस्तु हैं। एतज्जन्य भगवान् कपिलदेव ने कहा है—

'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविक कर्मणाम्।
सत्त्व एवैक मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा।।" भा० ३-२५-३२-३३

गुणत्रयोपाधिक एवं श्रुतिपुराणादिगम्य चरित देववृन्द के मध्य में सत्त्वे—अर्थात् स्वरूपशक्ति वृत्तिभूत शुद्ध सत्त्वमूर्त्ति श्रीविष्णु में, एकाग्रमनाः मानव की जो फलाभिसन्धिरहिता स्वाभाविकी वृत्ति अर्थात् तदानुकूल्यात्मक ज्ञान विशेष है, वह ही भक्ति है। वह भक्ति, सिद्धि, अर्थात् मुक्ति से भी गरीयसी है। जठरानल जिस प्रकार भुक्त अन्न को जीर्ण करता है, उक्त भक्ति भी उस प्रकार सत्वर जीवकोश को जीर्ण कर देती है।

"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।"

भक्ति लक्षणोक्त अनुशीलन शब्द का भावरूप अर्थ होने के कारण भक्ति का ज्ञानविशेषत्व ही सिद्ध होता है। भक्ति को एक वार ज्ञानावरण शून्या 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' शब्द से कहकर पुनर्वार भक्ति को ज्ञानविशेष रूपा, कहने से विरुद्ध भाषण नहीं हुआ, कारण, भावरूपा वृत्ति—ज्ञान ही है। अन्तःकरण वृत्ति को ज्ञान कहते हैं, भाव भी अन्तःकरण वृत्ति ही है। दार्शनिकवृन्द के मत में ज्ञान द्विविध हैं, वृत्तिज्ञान एवं फलज्ञान, ज्ञेय वस्तु के आकार से अन्तःकरण आकारित होने से उसको वृत्तिज्ञान कहते हैं, तदनन्तर ज्ञेय वस्तु का प्रकाश से जो विचार प्रसूत ज्ञानोत्पन्न होता है, उसको फलज्ञान कहते हैं। स्वप्रकाश विषयी आत्मा का ज्ञान ही वृत्ति ज्ञान है, एवं आत्म प्रकाश्य घटपटादि विषयसमूह का विचारजनित ज्ञान ही फल ज्ञान है। वृत्तिज्ञान विचार निरपेक्ष है, अतएव स्वप्रकाश होने के कारण स्वाभाविक है, फलज्ञान, विचार-निष्पन्न है, अतएव परप्रकाश्य होने के कारण कृत्रिम है। निर्मल निर्विषय अन्तःकरण आत्माकाराकारित होने से ही उसको आत्मज्ञान अथवा वृत्तिज्ञान कहते हैं। आत्मा का फल ज्ञान नहीं होता है। अन्तःकरण, घटपटादि विषयाकाराकारिता होने से बुद्धिस्थ चिदाभास के द्वारा विचार पूर्वक घटपटादि विषयक अज्ञानापसारण द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको फलज्ञान कहते हैं।

भावरूपा अन्तःकरण की स्वाभाविकी वृत्ति, पूर्वोक्त स्वप्रकाश आत्मज्ञान से भी विशेष है। आत्मज्ञान, अन्तःकरण की चित्सत्तारूपा वृत्ति है, भाव—उसकी चित्सत्तासाररूपा वृत्ति है। वह

आनुकूल्याद्यात्मिका सुखरूपा-आनन्दरूपा वृत्ति होने के कारण उसको चित्सत्ता सार रूपा वृत्ति कहते हैं।

श्रीभगवान् के गुणादि श्रवणमात्र से उनमें जो अविच्छिन्न मन की प्रवाहरूपा गति होती है, वह ही भक्ति है, एवं वह ही भाव है। वह शुद्ध सत्त्व विशेषात्मक है, अर्थात् ह्लादिनी समवेत सम्बित् सार रूपा है। वह प्रेमरूप-अंशुमाली का अंशु है। वह प्रेम की अङ्कुर है। वह आनुकूल्य अर्थात् रुचि के द्वारा चित्त की स्निग्धता का सम्पादक है। उसका अपर नाम रति है।

श्रीकृष्णविषयिणी रति, जब श्रवणादि कर्त्तृक उपस्थापित विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारिभाव द्वारा व्यक्तीकृत होती है, अर्थात् आस्वाद योग्यता प्रापित होती है, तब उस भाव अथवा रति को भक्तिरस कहते हैं। भक्तिरस द्वादश विध हैं—तन्मध्ये सात गौण हैं, एवं पाँच मुख्य हैं। वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, रौद्र एवं बीभत्स – यह सात गौण भक्तिरस हैं, एवं शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर— पाँच मुख्य भक्तिरस हैं। प्रत्येक रस में एक-एक स्थायीभाव होता है। उत्साह, शोक, विस्मय, हास, भय, क्रोध एवं जुगुप्सा – यह सात वीरादि सात गौणरस के स्थायी भाव हैं। एवं शान्ति, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं प्रियता—यह पाँच शान्तादि पञ्च मुख्यरस के स्थायी भाव हैं। उक्त स्थायीभाव समूह, श्रवणादि कर्त्तृक उपस्थापित विभावादि व्यक्तीकृत होकर रस रूप में परिणत होते हैं। तन्मध्य में जिसके द्वारा एवं जिसमें स्थायी भावादि का आस्वादन किया जाता है, उसका नाम विभाव है। विभाव द्विविध हैं—आलम्बन एवं उद्दीपन। आलम्बन भी विषयाश्रय भेद से द्विविध हैं। श्रीकृष्ण, भक्तिरस का विषयालम्बन है, एवं तदीय भक्तगण—आश्रयालम्बन हैं। श्रीकृष्ण के उद्देश में रति उत्सारित होती है, तज्जन्य श्रीकृष्ण को विषयालम्बन कहते हैं। एवं उक्त रति, श्रीकृष्णभक्तगण को आश्रयकर रहती है, तज्जन्य, श्रीकृष्ण भक्तगण रति का आश्रयालम्बन हैं। यद्द्वारा भाव का उद्दीपन होता है, उसे उद्दीपन विभाव कहते हैं।

जो आलम्बन विभाव की चेष्टा, रूप एवं भूषणादि एवं देशकालादि भाव को उद्दीप्त करते हैं, तज्जन्य उन सबको उद्दीपन विभाव कहते हैं। जो अन्तरस्थ भाव को बाहर प्रकट करता है, उसका नाम—अनुभाव है। अनुभाव मिश्र एवं सात्त्विक भेद से द्विविध हैं। सत्त्व मात्रोद्भव अर्थात् केवल मानसिक अनुभाव का नाम—सात्त्विक अनुभाव है, एवं कायवाङ् मानसिक मिश्रित अनुभाव का नाम मिश्रअनुभाव है। नृत्य, गीत एवं हास्य—मिश्रअनुभाव हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु, मूर्च्छा, यह आठ का नाम सात्त्विक अनुभाव है। जो सब भाव, स्थायी भाव में कभी उन्मग्न एवं कभी निमग्न होकर उक्त भाव के अभिमुख में सञ्चरण करते हैं, उन सबको सञ्चारिभाव अथवा व्यभिचारीभाव कहते हैं। व्यभिचारी भाव निर्वेदादि भेद से तेतीस हैं।

स्थायिभावाख्या रति भी ऐश्वर्य्यज्ञान मिश्रा एवं केवला भेद से द्विविधा हैं। गोकुल में ऐश्वर्य्यज्ञान-शून्या केवला रति है, एवं मथुरा, द्वारका पुरीद्वय में एवं वैकुण्ठादि में ऐश्वर्य्यज्ञानयुक्ता मिश्रा रति है। ऐश्वर्य्यज्ञानयुक्ता मिश्रारति में प्रेम के वृत्तिसमूह यथेष्ट प्रसारित होने में अक्षम होने के कारण प्रेम-सङ्कुचित होता है। ऐश्वर्य्यज्ञानशून्या केवलारति में प्रेम के वृत्तिसमूह, पराकाष्ठा में उन्नीत होने में समर्थ होने के कारण उक्त प्रेम का सङ्कोच अथवा विकाश दृष्ट नहीं होता है। वह सर्वदा एक रूप में ही अवस्थित होता है। केवला की रीति यह है कि वह ऐश्वर्य्य सन्दर्शन करके भी उसको स्वीकार नहीं करती है।

मिश्रारति में शान्त एवं दास्यरस में ऐश्वर्य्यज्ञान, स्थल विशेष में प्रेम का उद्दीपक होता है, एवं वात्सल्य में, सख्य में, एवं मधुर के स्थल विशेष में प्रेम का सङ्कोचक होता है।

श्रीकृष्ण, जिस समय देवकी-वसुदेव के चरण वन्दन किये थे, उस समय श्रीकृष्ण का पूर्वदृष्ट ऐश्वर्य्य स्मरण कर वे भयभीत होगये थे। अर्जुन, श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य्य को देखकर विशेष भीत होकर निज धृष्टता

निबन्धन क्षमा प्रार्थना किये थे। रुक्मिणीदेवी श्रीकृष्ण के परिहास वाक्य सुनकर त्याग भय से भीता हो गई थीं। गोकुल में किन्तु, उस प्रकार प्रेम के सङ्कोच विकाशादि दृष्ट नहीं होते हैं। व्रजवासिवृन्द श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य्य को देखकर भी उसको मन में स्थान प्रदान नहीं करते हैं। मा, यशोदा, श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य्य को देखकर भी आत्मज बोध से श्रीकृष्ण को बाँध चुकी थीं। गोप-बालकवृन्द, श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य्य को देखकर भी कृष्ण के स्कन्ध रोहण करते थे। गोपीगण, कृष्ण को, वितथ, शठ कहने में कुण्ठिता नहीं होती थीं। श्रीराधिका तो श्रीकृष्ण के स्कन्धारोहण निमित्त पाद प्रसारण हो कर चुकी थीं।

श्रीकृष्णनिष्ठा ही शान्त भक्तिरस का गुण है—इस रस में सच्चिदानन्द मूर्त्ति, नराकार परब्रह्म, चतुर्भुज नारायण, परमात्मा एवं शान्त, दान्त, शुचि, वशी प्रभृति गुण सम्पन्न श्रीकृष्ण-विषयालम्बन हैं। ज्ञानिवृन्द भी मोक्षवासना त्यागकर श्रीकृष्ण-कृपा से यदि भक्तिवासनायुक्त होते हैं, तब वे सब भी आश्रयालम्बन होते हैं। पर्वत काननादि निवासी साधुजन सङ्ग एवं सिद्ध क्षेत्रादि उद्दीपन विभाव हैं। नासाग्रदृष्टि, अवधुत के समान चेष्टा, निर्ममता, भगवद्द्वेषि जन में विद्वेष राहित्य, भगवद्भक्तजन में भक्त्यातिशय्य का अभाव, मौन, ज्ञानशास्त्र में अभिनिवेश प्रभृति अनुभाव हैं। प्रलय वर्जित अश्रु पुलकादि सात्त्विक भाव हैं। निर्वेद मति एवं धृति प्रभृति सञ्चारी भाव हैं।

दास्य भक्ति रस का गुण—सेवा। दास्य रस में ईश्वर प्रभु, सर्वज्ञ एवं भक्तवत्सल प्रभृति गुणान्वित श्रीकृष्ण विषयालम्बन है, ममतायुक्त, गौरवभावमय, श्रीभगवन्निष्ठ, निज आचरण द्वारा अपर का उपकारक दास्य सेवा परायण, अधिकृत भक्त, आश्रित भक्त, पारिषद् एवं अनुगामी यह चतुर्विध भक्त-आश्रयालम्बन हैं, उनके मध्य में ब्रह्म शङ्करादि आधिकारिक देवतावृन्द, अधिकृत भक्त हैं, आश्रितभक्त-शरण्य,ज्ञानीचर एवं सेवानिष्ठ भेद से त्रिविध हैं। तन्मध्ये कालियनाग, मगधराज, जरासन्ध कर्त्तृक रुद्ध राजन्यवृन्द प्रभृति शरण्य हैं, प्रथम ज्ञानी होकर पश्चात् मोक्षेच्छा वर्जन पूर्वक जो दास्य में प्रवृत्त होते हैं, वे सब ही ज्ञानिचर हैं। सनकादि मुनिगण इस विभाग के अन्तर्गत हैं। उद्धव, दारुक एवं श्रुतदेवादि क्षत्रियगण एवं उपनन्द प्रभृति गोपगण पारिषद हैं। पुर में सुचन्द्र एवं मण्डनादि एवं व्रज में रक्तक, पत्रक एवं मधुकण्ठादि अनुगामी हैं। इन सबके मध्य में जो परिवार श्रीकृष्ण के प्रति यथोचित भक्ति करते हैं, उनका नाम धुर्य्य भक्त है। जो श्रीकृष्ण प्रेयसीवर्ग में अधिक आदरयुक्त हैं, उनका नाम धीरभक्त है। जो श्रीकृष्ण कृपा-लाभ से गर्वित होकर किसी की अपेक्षा नहीं करते हैं, वे सब वीरभक्त हैं। यह सब सम्भ्रम प्रीतियुक्त भक्त के मध्य में श्रीकृष्ण में गुरुत्वबुद्धि विशिष्ट प्रद्युम्न एवं शाम्बादि श्रीकृष्ण के पाल्य हैं।

उक्त भक्तसमूह-नित्यसिद्ध, साधनसिद्ध एवं साधक भेद से त्रिविध होते हैं। श्रीकृष्ण के अनुग्रह एवं उनकी चरणधूलि, महाप्रसाद प्रभृति उद्दीपन विभाव हैं। आज्ञा पालनादि अनुभाव हैं। इस रस की तीन अवस्थायें हैं—प्रेम, स्नेह एवं राग। तन्मध्ये अधिकृत भक्त में एवं आश्रित भक्त में प्रेमपर्य्यन्त स्थायिभाव है। पार्षद भक्त में, स्नेह पर्य्यन्त स्थायिभाव है। परीक्षित, दारुक एवं उद्धव में राग पर्य्यन्त दृष्ट होता है। व्रजानुग रक्तक प्रभृति में एवं पुरस्थ प्रद्युम्न प्रभृति में उक्त समस्त दृष्ट होते हैं।

इस रस में अयोग, योग एवं वियोगात्मक अवस्थात्रय हैं। प्रथम दर्शन के पूर्व की अवस्था का नाम अयोगावस्था है। दर्शन के पश्चात् जो विच्छेद होता है, उसका नाम- वियोगावस्था है। मध्यावस्था में सङ्ग का नाम-योगावस्था है। वियोग में, अङ्गताप, कृशता, जागरण, आलम्बनशून्यता अथवा अनवस्था, अधीरता, जड़ता, व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा एवं मृत्यु अर्थात् मृत्यु तुल्य अवस्था होती है। ये दश दशा हैं। अयोग में औत्सुक्यादि एवं योग में सिद्धि एवं तुष्टि प्रभृति दशा होती है।

सख्य भक्तिरस का गुण सम्भ्रमराहित्य है—इस रस में वैदग्ध, बुद्धिमत्ता, सुवेश, एवं सुखित्वप्रभृति

गुणयुक्त श्रीकृष्ण, विषयालम्बन हैं। ममतायुक्त, विश्वासभावमय श्रीभगवन्निष्ठ, निज आचरण के द्वारा अन्य का उपकारक, सख्यसेवापरायण, तदीय सखा समूह आश्रयालम्बन होते हैं। सुहृत्, सखा, प्रियसखा, एवं प्रियनर्म्म सखाभेद से उक्त आश्रयालम्बन चतुर्विध होते हैं। तन्मध्ये जो श्रीकृष्ण से वयस में किञ्चित् अधिक एवं किञ्चित् वात्सल्ययुक्त हैं, वे सब ही सुहृत् होते हैं। व्रज में बलभद्र, सुभद्र एवं मण्डलीभद्र प्रभृति सुहृत् हैं। और जो श्रीकृष्ण से वयस में किञ्चिन्यून एवं किञ्चित् दास्यमिश्र होते हैं, वे सब सखा हैं। व्रज में, विशाल, वृषभ, एवं देवप्रस्थ प्रभृति सखा हैं। जो वयस में श्रीकृष्ण के तुल्य हैं, वे सब प्रियसखा होते हैं। व्रज में श्रीदाम, सुदाम, एवं वसुदाम प्रभृति प्रियसखा हैं, एवं जो प्रेयसी रहस्य का सहाय एवं श्रृङ्गार भावशाली हैं, वे सब प्रियनर्म्म सखा होते हैं।

सख्य में बाहुयुद्ध, क्रीड़ा, एक शय्या में शयन, प्रभृति अनुभाव हैं, अश्रुपुलकादि समस्त ही सात्त्विक भाव हैं। सख्यरति, उत्तरोत्तर वर्द्धित होकर प्रेम, स्नेह, प्रणय एवं राग– यह चतुर्विध आख्या से विभूषित होते हैं। पुर में अर्जुन, भीमसेन एवं श्रीदामविप्र प्रभृति सखा हैं, इस सख्यरस में दास्य के समान वियोग में दश दशा होती हैं।

वात्सल्य भक्तिरस का गुण स्नेह है—इस रस में कोमलाङ्गत्व, विनय, सर्वलक्षणयुक्तत्व प्रभृति गुणविशिष्ट श्रीकृष्णविषयालम्बन होते हैं। ममतायुक्त, अनुग्राह्य भाववन्त अर्थात् श्रीकृष्ण, हमारे अनुग्रह पात्र हैं, इस प्रकार बुद्धिविशिष्ट, निज आचरण द्वारा दूसरे का उपकारक, वात्सल्य सेवा परायण पित्रादि गुरुजनवृन्द आश्रयालम्बन होते हैं। उक्त आश्रयालम्बन व्रज में व्रजेश्वरी, व्रजराज, रोहिणी, उपनन्द एवं उनकी पत्नी प्रभृति हैं, एवं पुर में देवकी, कुन्ती एवं वसुदेवादि हैं। हास्य, मृदुमधुर वाक्य एवं बाल्य-चेष्टादि उद्दीपन विभाव हैं। मस्तकाघ्राण, आशीर्वाद एवं लालन पालनादि अनुभाव हैं। स्तम्भ स्वेदादि समस्त एवं स्तनक्षरण यह नव सात्त्विक भाव हैं। हर्ष शङ्का प्रभृति व्यभिचारी भाव हैं। इस रति में प्रेम स्नेह एवं राग यह तीन अवस्था उत्तरोत्तर दृष्ट होती हैं। इसमें भी वियोग में पूर्ववत् दश दशा होती हैं।

मधुर भक्ति रस का गुण—अङ्गसुख दान है। इस रस में रूपमाधुर्य्य, वेणुमाधुर्य्य, लीलामाधुर्य्य एवं प्रेममाधुर्य्य का आधारभूत श्रीकृष्ण विषयालम्बन होते हैं। ममतायुक्त, सम्भोगभावमय, श्रीभगवन्निष्ठ निज आचरण द्वारा अपर का उपकारक, कान्तसेवापरायण प्रेयसीवृन्द आश्रयालम्बन हैं। मुरलीरव, वसन्त, कोकिलध्वनि, नवमेघ, मयूरकण्ठ प्रभृति श्रवण दर्शनादि उद्दीपन विभाव हैं। कटाक्ष, हास्य प्रभृति अनुभाव हैं। स्तम्भादि समस्त सात्त्विक भाव सूद्दीप्त पर्य्यन्त इसमें होते हैं। आलस्य एवं उग्रता वर्जित निर्वेदादि समस्त सञ्चारी भाव इसमें दृष्ट होते हैं, एवं प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव एवं महाभाव की समस्त अवस्था परिदृष्ट होती हैं।

मधुररस का विषयालम्बन श्रीकृष्ण में धीरोदात्तादि ९६ (छियानवें) प्रकार नायक गुण दृष्ट होते हैं। एवं आश्रयालम्बन श्रीराधिका में ३६० (तीन सौ साठ) प्रकार नायिका गुण दृष्ट होते हैं। साधारणी, समञ्जसा, समर्था भेद से नायिका तीन प्रकार हैं। श्रीराधिकादि गोपीगण ही समर्था नायिका हैं।

रस समूह की पराकाष्ठा मधुर रस में है। इस रस में समस्त रसों का समाहार होने के कारण समस्त रसों के गुण परिदृष्ट होते हैं। इस रस में शान्त की कृष्ण निष्ठा, दास्य की सेवा, सख्य का असङ्कोच, वात्सल्य का लालन एवं कान्ता का निजाङ्ग द्वारा सेवन—यह पञ्च गुण दृष्ट होते हैं। जिस प्रकार आकाश का गुण—वायु में, वायु का गुण—तेज में, आकाश-वायु-तेज का गुण—जल में एवं आकाश-वायु-तेज-जल का गुण—पृथिवी में दृष्ट होते हैं, उस प्रकार शान्त का गुण—दास्य में, शान्त एवं दास्य का गुण—सख्य में, शान्त-दास्य-सख्य का गुण—वात्सल्य में, एवं शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य का गुण मधुर रस में दृष्ट होते

हैं। स्वादाधिक्य में मधुर रस ही समस्त रसों में अनुपम चमत्कार सम्पादक है। एवं स्वकीय परकीय भेद से इसमें द्विविध संस्थान हैं। पुर में यथाविधि स्वकीयात्व है, व्रज में किन्तु, अलौकिक परकीयत्व ही है।

हरि भक्ति के चरम प्रकाश में स्वयं को उद्भासित करने के निमित्त अनुशासित जीवन होना आवश्यक है। ईश्वरीय आदेशानुसार निष्कपट भाव से समस्त आचरण करना ही धर्म है। कारण, शास्त्र विधिउलङ्घन पूर्वक आचरण ही उत्पथ एवं भयावह है। जीव, देह में निवासकर ईश्वरानुशासन के अनुसार यदि आचरण नहीं करता तो उसका आचरण संस्कारज ही होगा, वह ही अशान्ति का मूल बीज स्वरूप है। अतः श्रीहरिभक्तिविलास नामक ग्रन्थ की अतीव प्रयोजनीयता है। अनुशासित जीवन के प्रति उपादेयता बोध हेतु सत्सङ्ग की आवश्यकता है। सत्सङ्ग से उत्तम शिक्षा मिलती है, उससे मानव-जीवन निखिल सद्गुणों से पूर्ण होता है। प्रस्तुत "सत्सङ्ग" नामक दशम विलाश में अति उपादेय वस्तु का सन्निवेश है।

—हरिदास शास्त्री

विषयविवरणम्

———

श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रीश्रीहरिभक्तिविलासः

दशम-विलासः

श्रीकृष्णचरणाम्भोजमधुपेभ्यो नमो नमः। कथञ्चिदाश्रयाद्येषां श्वापि तद्गन्धभाग्भवेत् ॥१॥
अथ श्रीकृष्णभक्तानां सभां सविनयं शुभाम्। गच्छेद्वैष्णवचिह्नाढ्यः पातुं कृष्णकथासुधाम् ॥२॥

तथा च स्मृतिः—

इतिहासपुराणाभ्यां षष्ठसप्तमकौ नयेत् ॥३॥

श्रीचैतन्यपदाम्भोज-रसिकेभ्यो नमो नमः। बहुधा यततेऽज्ञोऽयं येषां प्रीतिचिकीर्षया ॥

अथ श्रीभगवन्महाप्रसादसेवनानन्तरं सत्सङ्गसेवां लिखन्, तत्सुसिद्धये सतः प्रणमति—श्रीकृष्णेति, श्रीकृष्णस्य चरणाम्भोजयोर्मधु भक्तिरसं पिवन्तीति तथा तेभ्यः श्रीभगवद्भक्तेभ्य इत्यर्थः। नमो नम इति वीप्सा भक्तिविशेषेण। अपीत्यस्य पूर्व्वत्रापि सम्बन्धः। येषां श्रीकृष्णचरणाम्भोजमधुपानां केनचिदपि प्रकारेण य आश्रयः शरणागतिः, तस्मादपि श्वा तत्तुल्यः परमनीचजनोऽपीत्यर्थः, तस्य तस्य श्रीकृष्णचरणाम्भोज-मधुनः, तेषां वा श्रीकृष्णचरणाम्भोजमधुपानां गन्धं भजति प्राप्नोतीति तादृशो भवेत्। श्वापीत्यनेन च यथा कमलमधुपानमत्तस्य भ्रमतो भ्रमरस्य कथञ्चित् सम्बन्धात् तन्मुखनिर्गलन्मधुगन्धेन कुक्कुरोऽप्यामोदितो भवेदित्यत्र दृष्टान्त ऊह्यः। अतस्तल्लक्षणादिलिखनरूप-सज्जनाश्रयात् सत्सङ्गाख्यभक्ति-विलासस्य लिखनमयोग्यादपि मत्तः सुखं सम्यक् घटेतेति भावः ॥१॥

अथ महाप्रसादादिग्रहणानन्तरं, शुभां निर्द्दोषां सर्व्वसद्गुणाढ्यां चेत्यर्थः। सविनयं यथा स्यात्तथा गच्छेत्; किमर्थम्? कृष्णस्य कथैव सुधा, तां पातुम्। यद्यपि 'न रोधयति मां योगः' (श्रीभा ११।१२।१) इत्यादिना-ऽग्रतो लेख्येन वचनजातेन सतां सङ्गतिमात्रस्यापि परमोपादेयत्वमुक्तं, तथापि भगवत्कथामृतरसपानमेव परमोपादेयमिति, किंवा 'तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र,-पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति'(श्रीभा ४।२९।४१ इत्यादिन्यायेन सत्सङ्गतो भगवत्कथासुधापानं स्वत एव सम्पद्यत इति तत्स्वभावानुभावमात्रमत्र लिखितमिति दिक्। कथम्भूतः? वैष्णवानां चिह्नैः हरिमन्दिर-तिलक-मालामुद्रादिभिराढ्यः युक्तः सन्; अन्यथा वैष्णवाज्ञानेन प्रत्युत्थानाद्यकरणात्, सभासदां तेषामपराधापत्त्या तस्याप्यपराधापत्तेः ॥२॥

भगवत्पूजानन्तरं मध्याह्ने सत्सङ्ग इति केषाञ्चिन्मतं निरस्यन् भोजनानन्तरमेव सत्सङ्ग इति स्वमतं द्रढयन् स्मृतिवचनं प्रमाणयति—इतिहासेति, इतिहासो भारतादिः, षष्ठसप्तमौ अष्टधा-विभक्तदिनभागौ नयेत, पञ्चमभागे गृहस्थस्य भोजनविधानात् ॥३॥

किसी प्रकार भी जिनका आश्रय ग्रहण करने से कुक्कुरतुल्य अति हीनजन भी श्रीकृष्णपाद की गन्ध का सेवनाधिकारी होता है, श्रीकृष्ण के श्रीचरण-कमलों के भ्रमर तुल्य उन समस्त भक्तवृन्द को मैं पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ ॥१॥

महाप्रसाद प्रभृति ग्रहणपूर्वक, श्रीहरिमन्दिर तिलक, माल्य एवं श्रीहरिनामाक्षरादि वैष्णव चिह्न से विभूषित होकर श्रीहरि कथा सुधा पान करने के निमित्त विनीत भाव से श्रीकृष्ण भक्तवृन्द की शुभ सभा में गमन करे ॥२॥

उक्त विषय में स्मृति विधान यह है, महाभारतादि इतिहास एवं पुराण द्वारा अष्ट अंश से अंशीभूत दिवस का षष्ठ एवं सप्तम भाग अतिवाहित करे ॥३॥

अथ श्रीभगवद्भक्तानां लक्षणानि

सामान्यतः लैङ्गे—

विष्णुरेव हि यस्यैष देवता वैष्णवः स्मृतः ।।४।।

अत्र विशेषः

व्रत-कर्म्म-गुण-ज्ञान-भोग-जन्मादिमत्स्वपि । शैवेष्वपि च कृष्णस्य भक्ताः सन्ति तथा तथा ।।५

अत्र व्रतिषु मध्ये भगवद्भक्तिहेतु-व्रतपरता भगवद्भक्तलक्षणम्

तथा स्कान्दे श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-संवादे—

दशमीशेषसंयुक्तं दिनं वैष्णववल्लभम् । नोपासते महीपाल ते वै भागवता नराः ।।६।।
प्राणात्यये न चाश्नन्ति दिनं प्राप्य हरेर्नराः । कुर्व्वन्ति जागरं रात्रौ सदा भागवता हि ते ।।७।।
उपोष्य द्वादशीं शुद्धां रात्रौ जागरणान्विताम् । अल्पान्तु साधयेद्यस्तु स वै भागवतो नरः ।।८।।

विष्णुभक्तमेव लक्षयति—विष्णुरेवेति। देवता इष्टदेवत्वेन पूज्य इत्यर्थः, एष वैष्णवः विष्णुभक्तः स्मृतः ।।४

एवं विष्णुदेवताकत्वमात्रेण सामान्यतो भगवद्भक्तानां लक्षणं लिखित्वा, इदानीं व्रतादिविशेषेण विशेषतो लक्षणानि लिखति—व्रतेति । व्रतमुपवासादि, कर्म्म सदाचारः, गुणः करुणादिः, ज्ञानमात्मानात्मविवेकादि, भोगः विषयसेवा, जन्म सत्कुलोत्पत्त्यादि, आदि-शब्दात् विद्यावित्तादिः, तत्तद्युक्तेषु । यद्यपि सतादीनाम-हेतुत्वात् तेषु विष्णुभक्ता न सम्भवन्ति, तथापि तेषु जनेषु मध्ये तथा शैवेष्वपि मध्ये; चकार उक्तसमुच्चये तथा तथा तेन व्रतादिविशेषेणैव प्रकारेण कृष्णस्य भक्ताः सन्ति वर्त्तन्ते । व्रतादिनिष्ठतत्तदसाम्प्रदायिकमध्ये भगवद्भक्तिहेतुर्भगवद्व्रतादिपरतया तत्तद्विशेषतो भगवद्भक्ता ज्ञेया इत्यर्थः ।।५।।

तदेव क्रमेण विविच्य लिखति—तत्रेत्यादिना हरेः प्रिय इत्यन्तेन । भगवद्व्रतानि एकादश्युपवासादीनि, तत्परता भगवद्भक्तानां लक्षणम् । तत्र हेतुः—भगवद्भक्तेर्हेतुरिति एकादशीव्रतादिभिरेव श्रवणादिमुख्यभक्ति-प्रवृत्तेः । यद्वा, भक्तिर्हेतुर्यस्यां सा, भगवद्भक्तिं विना भगवद्व्रतेष्वप्रवृत्तेरिति दिक् । एवमग्रेऽप्यूह्यम्; वैष्णव-वल्लभं दिनमेकादशी ।।६।। प्राणात्यये मरणसङ्कटेऽपि प्राप्ते सति ।।७।।

अथ श्रीभगवद्भक्तानां लक्षणानि

सामान्यतः लिङ्गपुराण में उक्त है—श्रीविष्णु ही जिनके अभीष्ट देवता हैं वे 'वैष्णव' शब्द से अभिहित होते हैं ।।४।।

अत्र विशेषः

उपवासादि व्रत, सदाचारादि कर्म, करुणादि गुण, आत्मानात्म विवेकादि ज्ञान, विषय भोग, सद्वंश में जन्म एवं विद्यावित्तादि युक्त व्यक्तिवृन्द में तथा शैवगण के मध्य में भी उक्त विशेष प्रकार व्रतादि के द्वारा ही श्रीकृष्ण के भक्तवृन्द विद्यमान हैं ।।५।।

अत्र व्रतिषु मध्ये भगवद्भक्तिहेतु-व्रतपरता भगवद्भक्तलक्षणम्

स्कन्दपुराण के श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-संवाद में वर्णित है—हे राजन् ! जो मनुष्य, दशमीशेष संलग्न विष्णुवल्लभ दिवस अर्थात् एकादशी में उपवास नहीं करते हैं, निश्चय ही उन सबको भागवत जानना होगा ।।६।।

मरणरूप सङ्कटकाल उपस्थित होने से भी जो सब मनुष्य, हरिवासर में भोजन नहीं करते हैं, एवं हरिवासर की रात्रि में जागरण करते हैं, सर्व्वदा उन सबको भागवत जानना होगा ।।७।।

उपवास रहकर रात्रि में जागरण पूर्वक शुद्धाद्वादशी का साधन स्वल्प परिमाण में जो मनुष्य करते हैं, वे सब मानव भागवत हैं ।।८।।

भक्तिर्न विच्युता येषां न च्युतानि व्रतानि च । सुप्रियः श्रीपतिर्येषां ते स्युर्भागवता नराः ॥९॥

कर्म्मिषु भगवदर्पणादिना तदाज्ञाबुद्धचा वा भक्तिहेतुः सदाचारपरता

धर्म्मार्थं जीवितं येषां सन्तानार्थञ्च मैथुनम् । पचनं विप्रसुखार्थं ज्ञेयास्ते वैष्णवा नराः ॥१०॥

अध्वगन्तु पथि श्रान्तं कालेऽत्र गृहमागतम् । योऽतिथिं पूजयेद्भक्त्या वैष्णवः स न संशयः ॥११

सदाचाररताः शिष्टाः सर्व्वभूतानुकम्पकाः । शुचयस्त्यक्तरागा ये सदा भागवता हि ते ॥१२॥

पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये श्रीनारदाम्बरीष-संवादे—

जीवितं यस्य धर्म्मार्थे धर्म्मो हर्य्यर्थमेव च । अहोरात्राणि पुण्यार्थे तं मन्ये वैष्णवं जनम् ॥१३॥

भगवद्भक्तिर्न विच्युतेत्येतल्लक्षणं निर्दिशति—व्रतानि एकादशी-कार्त्तिकादिनियमाः, न च्युतानि नापयातानि, येषां व्रतानां सम्बन्धेन श्रीपतिः सुप्रियः स्यात् ॥९॥

भगवति अर्पणं कर्म्मणस्तत्फलस्य वा निवेदनम्, आदि-शब्दाच्च भगवतान्तर्यामिणा प्रेरितोऽहं करोमीति दासभावविशेषस्तेन । नन्वेवमपि कर्म्मणोऽत्यन्तबहिरङ्गत्वेन तथान्तर्यामिदृष्ट्या समर्पणाज्ज्ञानविशेषस्पर्शेन च साक्षाद्भक्तिहेतुत्वाभावात् तत्परत्वेन भगवद्भक्तलक्षणं न घटत इत्याशङ्क्य पक्षान्तरं लिखति—तस्य भागवतः आज्ञा, 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' इति वचनादरेण तत्तद्विहितकर्म्माचरणं, भगवदाज्ञाप्रतिपालनमेवेति सिध्यति । एवं भगवदर्पणादिना कृतः सदाचारः सत्कर्म्म भगवद्भक्तिहेतुर्भवति, अतस्तत्परता कर्म्मिषु मध्ये भगवद्भक्तलक्षणमित्यर्थः । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ।

धर्म्मार्थमित्यादौ यद्यपि साक्षाद्भगवदर्पणादिकं न श्रूयते, तथापि ते वैष्णवाः ज्ञेया इत्याद्युक्त्या तत्र तत्र भगवदर्पणादिकमूह्यमेव, अन्यथा केवलतत्तत्कर्म्मनिष्ठया भगवत्सम्बन्धमात्राभावाद्वैष्णवत्वानुपपत्तेः । अथवा धर्म्मार्थमेव जीवितं, न तु विषयभोगार्थं, सन्तानार्थमेव मैथुनं, न तु सुखार्थं, पचनं अन्नादिपाकक्रिया विप्र-सुखार्थमेव, न तु स्वार्थम् । ते वैष्णवा वैष्णवत्वव्यतिरेकेण तादृशशुद्धचित्तत्वाभावतस्तथा प्रवृत्त्यसम्भवादिति दिक् ॥१०॥ भक्त्या भगवत्प्रीत्या ॥११॥

शिष्टाः शास्त्रपराः, त्यक्तो रागः कर्म्मफलादौ यैस्ते, एवञ्च भगवदर्पणमायातमेव ॥१२॥

एवं यस्य पुण्यार्थेऽहोरात्राणि भवन्ति तम् ॥१३॥

जो व्यक्ति भक्ति से विच्युत नहीं हैं, जो मनुष्य एकादशी व्रत एवं कार्त्तिकादि व्रत्त का नियम भङ्ग नहीं करते हैं, एवं श्रीपति, जिनके प्रणय पात्र हैं, वे सब मनुष्य ही भागवत हैं ॥९॥

कर्म्मिषु भगवदर्पणादिना तदाज्ञाबुद्धचा वा भक्तिहेतुः सदाचारपरता

जो काम्यकर्म परायण हैं, एवं कर्मफल भगवान् को अर्पण करते हैं, एवं श्रुति-स्मृति श्रीभगवान् की आज्ञा हैं । 'मैं उसी आज्ञा को पालन करता हूँ' इस प्रकार बुद्धि से भक्तचङ्ग पालन करते हैं, उसे सदाचार कहते हैं । धर्माचरण के निमित्त ही जिनका जीवन है, मैथुन क्रिया भी केवल सन्तानोत्पादन हेतु है, अन्नादि पाक किया, विप्रश्रेष्ठ के निमित्त है, उन सब मनुष्य को वैष्णव समझना होगा ॥१०॥

पथश्रान्त पथिक उपस्थित समय में गृह में उपस्थित होने पर जो व्यक्ति, अतिथिबुद्धि से प्रीतिपूर्वक उनकी पुजा करते हैं, वे वैष्णव हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥११॥

जो मनुष्य सदाचार सम्पन्न हैं, शास्त्रानुरक्त हैं, सर्व प्राणी के प्रति दयालु हैं, पवित्र एवं कर्मफल परित्यागी हैं, वे सब ही भागवत हैं ॥१२॥

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्यस्थ श्रीनारद-अम्बरीष-संवाद में उक्त है—जिनका जीवन धर्म के निमित्त है, धर्म भी श्रीहरि के निमित्त ही है एवं अहोरात्र पुण्यकर्म निमित्त अतिवाहित होता है, उनको वैष्णव जानना होगा ॥१३॥

लैङ्गे च—

विष्णुभक्तिसमायुक्तान् श्रौतस्मार्त्तप्रवर्त्तकान् । प्रीतो भवति यो दृष्ट्वा वैष्णवोऽसौ प्रकीर्त्तितः ।।१४

गुणवत्सु भक्तिहेतुः कृपालुत्वादि-सद्गुणशीलता

स्कान्दे तत्रैव—

परदुःखेनात्मदुःखं मन्यन्ते ये नृपोत्तम । भगवद्धर्म्मनिरतास्ते नरा वैष्णवा नृप ।।१५।।

तृतीयस्कन्धे श्रीकपिलदेवहूति-संवादे (२६।२१)—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्व्वदेहिनाम् । अजातशत्रवः शान्ता साधवः साधुभूषणाः ।।१६

पञ्चमस्कन्धे ऋषभदेवस्य पुत्रानुशासने (५।२)—

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते,-स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता, विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ।।१७।।

श्रौतानां स्मार्त्तानाञ्च कर्म्मणां प्रवर्त्तकान् ।।१४।।

अतस्त एव नरा भगवद्धर्म्मनिरता वैष्णवा; यद्वा, वैष्णवा इत्यत्र हेतुः—भगवतो धर्म्मः स्वभावः परदुःखासहिष्णुतादिस्तत्र नितरां रता इति ।।१५।।

ये तितिक्षवः क्षमाशीलाः, सुहृदः निरुपाध्युपकारिणः शान्ताः क्रोधादिरहिता विनयादिमन्तो वा, साधु सुशीलमेव भूषणं येषां ते; तुलसीमालादिसद्द्रव्यं वा. ते साधवः भगवद्भक्ता इत्यर्थः । 'अहं भक्तपराधीनः' (श्रीभा ९।४।६३) इत्युपक्रम्य 'साधवो हृदयं मह्यम्' (श्रीभा ९।४।६८) इत्याद्युपसंहारे वदता श्रीभगवता साधव एव भक्ता इत्यभिव्यञ्जनात् । एवं महच्छब्देनापि मुख्यतया भगवद्भक्त एवाभिधीयते, श्रीप्रह्लादोक्तौ—'हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः' (श्रीभा ५।१८।१२) इत्यादिवचनार्थविचारात् । तथा सच्छब्देनापि भगवद्भक्त एव—'यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या, कर्म्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः' (श्रीभा ४।२२।३९) इत्यादिवचनार्थानुसारादित्येषा दिक् ।।१६।।

विमुक्तेः विशिष्टाया मुक्तेः श्रीवैकुण्ठलोकप्राप्तिलक्षणायाः तमसः संसारस्य नरकस्य वा द्वारम्, साधवः शास्त्रानुवर्तिनः ।।१७।।

लिङ्गपुराण में लिखित है—श्रुति विहित एवं स्मृति विहित कर्मप्रवर्त्तक विष्णुभक्ति विशिष्ट व्यक्तिगण को दर्शन करके जो व्यक्ति तुष्ट होते हैं, वे सब वैष्णव होते हैं ।।१४।।

गुणवत्सु भक्तिहेतुः कृपालुत्वादि-सद्गुणशीलता

स्कन्दपुराण के श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-संवाद में लिखित है— हे नृपश्रेष्ठ ! जो मानव परदुःख को आत्मदुःख मानते हैं, इस प्रकार भगवद्धर्म्मानुरक्त मनुष्यवृन्द को वैष्णव जानना चाहिये ।।१५।।

तृतीय स्कन्ध में श्रीकपिल-देवहूति-संवाद में लिखा है—तितिक्षु, कारुणिक, समस्त जीवों के सुहृद् एवं अजातशत्रु हैं, वे सब ही साधु हैं, सुशीलता ही जिनका भूषण है, वे सब ही साधु हैं ।।१६।।

पञ्चम स्कन्ध के ऋषभदेव के पुत्रानुशासन में वर्णित है—हे वत्सगण ! पण्डितगण, महत् सेवा को 'भगवद्भक्त की सेवा को' मुक्तिद्वार एवं योषित्सङ्गी का सङ्ग को संसार अथवा क्लेशबहुल नरक का द्वार कहते हैं । हे पुत्रगण ! जो सब मानव, सब जीवों में समदर्शी, प्रशान्त, क्रोधहीन, सर्वजीव सुहृद् एवं सदाचार निष्ठ हैं, वे सब ही महत् हैं ।।१७।।

एकादशस्कन्धे भगवत्-प्रदत्तोद्धव-प्रश्नोत्तरे (११।२६-३१)—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्व्वदेहिनाम् । सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्व्वोपकारकः ॥१८॥

कामाक्षुभितधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।

अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥१९॥

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः । अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥२०

विष्णुपुराणे यम-तद्भट-संवादे—

न चलति निजवर्णधर्म्मतो यः, सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे ।

न हरति न चलति किञ्चिदुच्चैः, स्थिरमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥२१॥

ज्ञानिषु भक्तिहेतुर्ज्ञानवत्ता

एकादशे (२।४५-५२) हवियोगेश्वरोत्तरे—

सर्व्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥२२॥

श्रीभगवता प्रकर्षेण दत्ते उद्धवकृतप्रश्नस्य 'साधुस्तवोत्तमःश्लोकमतः कीदृग्विधः प्रभो', इत्यस्य उत्तरे प्रतिवचने । कृपालुः परदुःखासहिष्णुः, सर्व्वेदेहिनां केषाञ्चिदप्यकृतद्रोहः; यद्वा, सर्व्वदेहिनामुत्तम-मध्यम-नीचानां तितिक्षुः अपराधसहिष्णुः, सत्यं सारः स्थिरं बलं यस्य सः, अनवद्यात्मा असूयादिरहितः, सुखदुःखयोः समः, यथाशक्ति सर्व्वेषामुपकारकः, कामैरक्षुभितचित्तः, दान्तः संयतवाह्येन्द्रियः, मृदुः अकठिनचित्तः, शुचिः सदाचारः, अकिञ्चनः अपरिग्रहः, अनीहः दृष्टक्रियाशून्यः, मितभुक् लघ्वाहारः, शान्तः नियतान्तःकरणः, स्थिरः स्वधर्म्मनियमादौ, मच्छरणः मदेकाश्रयः, मुनिर्मननशीलः वृथावार्त्तात्यागी वा, अप्रमत्तः सावधानः, गभीरात्मा निर्व्विकारः, धृतिमान् विपद्यपि अकृपणः, जितषड्गुणः क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामृत्यू षडूर्म्मयः एते जिता येन सः, अमानी मानाकाङ्क्षारहितः, अन्येभ्यो मानदः, कल्यः परबोधने दक्षः, मैत्रः अवञ्चकः, कारुणिकः करुणयैव सर्व्वत्र प्रवर्त्तमानः, न तु दृष्टलोभेन, कविः सम्यग्ज्ञानी भगवद्वर्णनशीलो वा; यद्यप्येते परदुःखासहिष्णुतादयो गुणाः कतिचिदन्येष्वपि सम्भवेयुः, तथापि 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्व्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' (श्रीभा ५।१८।१२) इत्यादि-न्यायेन सर्व्वेषामेषां गुणानां भगवद्भक्तिष्वेव सम्यग्-वृत्तेः । किंवा भगवद्भक्तानां शुद्धसात्त्विकतया तेष्वेव निष्ठाव्याप्त्या तैर्गुणैर्भगवद्भक्तत्वं बोध्यत इति दिक् । एवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥१८-२०॥

श्रीहवियोगेश्वरस्य उत्तरे, 'अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्म्मो यादृशो नृणाम् । यथा चरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्-

---

एकादश स्कन्ध में उद्धव के प्रश्नोत्तर में भगवद्दत्तोत्तर में वर्णित है—परदुःख कातर, सर्वदेही के प्रति अकृतद्रोह, अपराध सहिष्णु, सत्यसार, असूयादिशून्य, सुख-दुःख में सम, सर्वोपकारक, कामनासमूह में अक्षुब्धचित्त, वाह्येन्द्रिय निग्रहशील, कोमल चित्त, सदाचार सम्पन्न, अपरिग्रह, दृष्टक्रियाशून्य, मितभुक् (स्वल्प भोजी) नियतान्तःकरण, स्वधर्मनिष्ठ, मदेकाश्रय, मेरी शरणागत, मननशील, अप्रमत्त, सावधान, निर्विकार, धैर्य्यशील, जितषड्गुण (क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा एवं मृत्युजयी) मानाकाङ्क्षाशून्य, मानप्रद, परप्रबोधन समर्थ, अवञ्चक, कारुणिक एवं सम्यक् ज्ञानी ही वैष्णव हैं ॥१८-२०॥

विष्णुपुराण के यमदूत-संवाद में लिखित है—जो व्यक्ति, निज वर्णाश्रम से भ्रष्ट नहीं हैं, जो निज सुहृद्, अरिपक्ष में समबुद्धि हैं, जो परद्रव्यापहारक अथवा उद्धत स्वभाव विशिष्ट नहीं हैं एवं स्थिर चित्त हैं वही विष्णुभक्त हैं ॥२१॥

ज्ञानिषु भक्तिहेतुर्ज्ञानवत्ता

एकादशस्कन्ध के हवियोगेश्वर के उत्तर में वर्णित है—हे राजन् ! जो मानव, सब जीवों में नियन्तृरूप

न यस्य स्व-पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा। सर्व्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥२३॥

एकादशे श्रीभगवदुक्तौ (११।३३)—

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥२४॥

तत्रैव हवियोगेश्वरोत्तरे (२।४६-४७)—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च। प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥२५॥

प्रियः॥' (श्रीभा ११।२।४४) इति श्रीनिमिप्रश्नस्य प्रतिवचने। तत्र यद्धर्म्मो यस्मिन् धर्म्मे परिनिष्ठित इत्यस्योत्तरम्—सर्व्वभूतेष्विति। 'आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो हरिः' इति तन्त्रोक्तेः, आत्मनो हरेः सर्व्वभूतेषु मशकादिष्वपि नियन्तृत्वेन वर्त्तमानस्य भगवद्भावं नि तिशयैश्वर्य्यमेव यः पश्येत् न तु तारतम्यम्। अयञ्चात्मज्ञानपर इति ज्ञेयं प्रकरणबलात्। एवमग्रे 'ईश्वरे' इत्यादि-पद्यद्वयेऽपि। अतएव पश्येदिति सम्भावनायां सप्तमी। आत्मज्ञानपरस्य तादृशभगवज्ज्ञानासम्भवात्तथा आत्मनि हरावेव भूतानि च यः पश्येत्। कथम्भूते? भगवति अप्रच्युतैश्वर्य्यादिरूपे, न पुनर्जड़मलिनभूताश्रयत्वेन जाड्यादि-प्रसक्त्या ऐश्वर्य्यादिप्रच्युतिं पश्येत्, स सर्व्वत्र परिपूर्णं भगवत्तत्त्वं पश्यन् भागवतोत्तम इत्यर्थः ॥२२॥

वित्तेषु स्वीयं परकीयं वेति आत्मनि च स्वपरो वेति भेदो यस्य नास्ति, यतः सर्व्वभूतेषु समः। भगवद्-दृष्ट्या भगवत्तत्त्वदृष्ट्या वा, व्यवहारादिना तुल्यः, अतएव शान्तः भगवन्निष्ठबुद्धिः, 'शमो मन्निष्ठता बुद्धेः' (श्रीभा ११।१९।३६) इति भगवदुक्तेः। वं प्रसिद्धौ, अस्य च सदा भगवन्निष्ठत्वेन सर्व्वत्र सद्व्यवहारादिना पूर्व्वोक्तादपि श्रैष्ठ्यमूह्यम्; अतएव तस्मादुत्तरो लेख्यः, एवमग्रेऽपि ॥२३॥

यावान् देशकालापरिच्छिन्नः, यश्च सर्व्वात्मा, तं मां ज्ञात्वा ज्ञात्वा पुनः पुनर्ज्ञात्वा एकान्तभावेन ये भजन्ति। यदि चैवं व्याख्येयं, यावान् नित्यकैशोरादिरूपः, यश्च श्रीदेवकीनन्दन-यशोदावत्सलेत्यादिरूपो यादृशः सहजपरमसौन्दर्य्यगुण-लीलारसविशेषाश्रयः। अन्यत् समानम्; भावः प्रेम्ण एव पूर्व्वावस्था, तत्रापीश्वरदृष्ट्या भयगौरवादिना विशुद्धत्वाभावाद्विशुद्धपरमपुरुषार्थरूपप्रेम्णो न्यूनः, अतएव श्रीस्वामिपादैश्च तद्व्याख्यातं सर्व्वलक्षणसारमाहेति। यद्वा, प्रथमं ज्ञात्वा अथानन्तरमज्ञात्वा भक्तिपरिपाकेनानुसन्धायेति। यद्वा, अप्यर्थे अथ-शब्दः, ज्ञात्वा त्वज्ञात्वापि केवलमेकान्तित्वेन ये भजन्ति परिचरन्त्येव, तदा प्रेमपरतादौ पद्यमेतद्द्रष्टव्यम् ॥२४॥

ईश्वरे भगवति प्रेम, तदधीनेषु तद्भक्तेषु मैत्री सख्यं, बालिशेषु अज्ञेषु कृपां, द्विषत्सु चोपेक्षां यः करोति, स मध्यमभागवत इत्यर्थः तादृशभेददर्शनात्; यद्वा, सर्व्वभूतेष्वित्यस्यायमर्थो द्रष्टव्यः— आत्मनो यो भगवान् इष्टदेवः श्रीकृष्णस्तस्य भावं प्रेम सर्व्वभूतेषु यः पश्येत्; तथा यानि भूतानि सर्व्वाणि तेषाञ्च भावं भगवति यः

में अधिष्ठित श्रीहरि का दर्शन करते हैं, एवं परमात्मा भगवान् श्रीहरि में सब जीवों को देखते हैं उन्हीं को उत्तम भागवत कहते हैं ॥२२॥

वित्त एवं आत्मा में स्वीय अथवा परकीय भेदबुद्धि जिनकी नहीं है, जो सर्वभूतों में समदर्शी एवं शान्त हैं, वे ही भागवतोत्तम हैं ॥२३॥

एकादशस्कन्ध में श्रीभगवदुक्ति इस प्रकार है—देश, काल, अपरिच्छिन्न, सर्वात्मा, सच्चिदानन्द रूप मुझको जानकर अथवा न जानकर जो लोक मेरा भजन अनन्यभाव से करते हैं, उन सबको भी मैं श्रेष्ठ भक्त मानता हूँ ॥२४॥

ईश्वर में प्रेम, तदधीन में अर्थात् भगवद्भक्तजन में मित्रता, अज्ञ लोक के प्रति दया एवं विद्वेषी अर्थात् भगवद्विद्वेषीजन के प्रति उपेक्षा, जो मानव करते हैं, भेददर्शी होने के कारण वे मध्यम भक्त हैं ॥२५॥

अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते । न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥२६॥

भोगवत्सु भक्तिहेतुर्भोगानासक्तता

हवियोगेश्वरोत्तरे (श्रीभा ११।२।४८)—

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥२७॥

सज्जन्मविद्यादिमत्सु भक्तिहेतुर्निरभिमानिता

तत्रैव (श्रीभा ११।२।५१)—

न यस्य जन्मकर्म्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः । सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥२८

पश्येत्; तेषां तद्भावे हेतुः—'आत्मनि आत्मवत् स्वतो जगतः, प्रेमास्पदे; यद्वा, चेतयितरि तत्प्रेरणप्रसादेनैव तद्भाव इत्यर्थः । किंवा आत्मकोऽपि चेतयितृत्वेन तस्य परमात्मतयात्मनोऽपि सकाशात् परमप्रेमास्पदत्वं युक्तमेवेति । एवञ्च स्वयं परमप्रेमरसप्लुततया स्वानुमानेनान्येष्वपि तथादृष्टचासौ भागवतोत्तम एव इत्यर्थः' इति । तदपेक्षया चास्य मध्यमत्वमुचितमेव । तादृशप्रेमराहित्येन सर्व्वत्र तादृशदृष्टचभावात् इत्थं व्याख्याय च पद्यमिदं प्रेमपरतादौ द्रष्टव्यम् ॥२५॥

अर्च्चायां प्रतिमायामेव पूजामीहते करोति, न तद्भक्तेषु अन्येषु च सुतरां न करोति; प्राकृतः प्रकृति-प्रारम्भः, अधुनैव प्रारब्धभक्तिः, शनैरुत्तमो भविष्यतीत्यर्थः। अर्च्चायामित्यनेन च तस्य तत्रार्च्चाबुद्धचपगम-सूचनात् । 'पूज्ये विष्णौ शिलाधीः' इत्यादि-वचनप्रामाण्येन दोषविशेषापत्तेस्तथा वैष्णवासम्माननाच्च कनिष्ठत्वं दर्शितम् । यद्वा, अर्च्चायामिति निमित्तसप्तमी । पूजार्थमेव हरेः पूजां श्रद्धया करोति, तथा अन्येषु च देवतान्तरेषु भक्तः, न च तद्भक्तेषु वैष्णवेषु भक्तः, स प्राकृतः कनिष्ठो भागवत इत्यर्थः । सोऽपि भगवत्-पूजाप्रवृत्त्या कालेनोत्तमो भवतीति ज्ञेयम् । अस्य च देवोत्तमादिज्ञानेनैव, किंवा हरेः पूजनेनैव लोकेषु निजपूजा स्यादित्यनेन तत्पूजायां प्रवृत्तेर्ज्ञानित्वं गमयति ॥२६॥

श्रीकृष्णाविष्टचित्तो न गृह्णात्येव, इन्द्रियैरर्थान् विषयान् गृहीत्वापीत्यपि-शब्दार्थः; न द्वेष्टि—तेषां दोषवत्त्वेऽपि सति न निन्दादिकं करोतीत्यर्थः। न काङ्क्षति गुणवत्त्वेऽपि सति न कामयते, यथोत्पन्नमेव तान् सेवते इत्यर्थः, भोगानासक्तत्वात् । तत्रैव हेतुः—इदमर्थादिकं सर्व्वमपि विष्णोर्मायां मायेति पश्यन्निति ॥२७

जन्म सत्कुलं, कर्म्म तपआदि, वर्णो विप्रत्वादिः, आश्रमः ब्रह्मचर्य्यादिः, जातिर्मूर्द्धाभिषिक्ताम्बष्ठाद्यनु-लोमजत्वं, तैरप्यस्मिन् ईदृशगुणवत्यपि देहे यस्याहंभावः महाकुलीनोऽहमित्याद्यभिमानो न सज्जते, स हरेः प्रियो भगवद्भक्तोत्तमो ज्ञेय इत्यर्थः ॥२८॥

जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक श्रीविग्रह में श्रीहरिपूजा करते हैं, किन्तु हरिभक्त अथवा अन्य मानव की पूजा नहीं करते हैं, वे प्राकृत भक्त हैं, अर्थात् प्रारम्भिक भक्त, कनिष्ठ भक्त हैं ॥२६॥

भोगवत्सु भक्तिहेतुर्भोगानासक्तता

भोगयुक्त मानवों की जो भोग विषय में अनासक्ति है, उसी को भक्ति उत्पत्ति के प्रति कारण जानना चाहिये । हवियोगेश्वर के उत्तर में लिखित है—महाराज ! जो मानव, इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण करके भी इस विश्व को श्रीविष्णु की वहिरङ्गा माया शक्ति द्वारा रचित मानते हैं, एवं भोग्य वस्तु की निन्दा प्रशंसा नहीं करते हैं, अर्थात् भोग्य वस्तु से हर्ष विषाद प्राप्त नहीं होते हैं, वे ही भागवतोत्तम हैं ॥२७॥

सज्जन्मविद्यादिमत्सु भक्तिहेतुर्निरभिमानिता

सत्कुल में जन्म एवं विद्यादिविशिष्ट होकर भी निरभिमानिता ही भक्ति प्राप्ति का कारण है—

श्रीमद्भागवत के उसी स्थान में लिखित है—हे राजन् ! जो व्यक्ति, पाञ्चभौतिक देह धारण कर

भावाः कथञ्चिद्भक्त्यैव ज्ञानानासक्त्यमानिता ।
भक्तिनिष्ठापका जातास्ततो ह्युत्तमतोदिता ॥२६॥

शैवेषु श्रीशिवकृष्णाभेदकाः

बृहन्नारदीये—

शिवे च परमेशाने विष्णौ च परमात्मनि ।
समबुद्धचा प्रवर्त्तन्ते ते वै भागवतोत्तमाः ॥३०॥
अन्यच्च तेषां भगवच्छास्त्रार्थपरतादिकम् ।
साक्षाद्भक्त्यात्मकं मुख्यं लक्षणं लिख्यतेऽधुना ॥३१॥

नन्वेवं निर्विशेष भगवद्भक्तलक्षणमेवायातं, तत् कुतः ? तत्र तत्र एव भागवतोत्तम इत्यादि-निर्द्देशात् । तत्राह—भावा इति । कथञ्चित् केनापि किञ्चित् परिचर्य्याभावादिना प्रकारेण या भक्तिस्तयैव, न तु कर्म्मादिना यास्ताः पूर्व्वलिखिता ज्ञानादयो जाता वा यदि; तत्र ज्ञानं सर्व्वभूतेष्वित्यादिषु अनासक्तिश्च भोगानामसक्तत्वं 'गृहीत्वापीन्द्रियैः' इत्यत्र, अमानिता च निरभिमानत्वं 'न यस्य जन्म' इत्यत्र दर्शितम् । कथम्भूताः ? भक्तेः निष्ठापकाः परिपाक-प्रापकाः, अनेन च भक्तेर्जाततया प्राप्तं भक्तेर्ज्ञानादिफलत्वं निरस्तं, भक्तिजातावान्तर-फलरूप-ज्ञानादिपरिकरैर्भक्तेर्भक्तिनिष्ठाफलत्वात् । हि-शब्दोऽवधारणे । ततस्तेभ्यस्तदभिप्रायेणैव वा उत्तमता तेषामुदिता उद्गता, तत्र तत्रोक्ता वा, अन्यथा ज्ञानादिमात्रपरत्वेन भागवतोत्तमत्वाद्यनुपपत्तेः । एतच्च श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे सकारणं विवृतमेवास्ति । अत्र च तादृश-ज्ञानाद्यनङ्गीकारेण-असामान्यभक्तमात्रलक्षणे ते लिखिताः, तथापि भागवतोत्तम इत्यादिकं पूर्व्वलिखितभगवद्व्रतपराद्यपेक्षयोह्यमित्येषा दिक् ॥२६॥

यथा ज्ञानादि-सम्प्रदायेषु भगवज्ज्ञानादिपरतया भगवद्भक्तलक्षणं लिखितम्, तथा शैवसम्प्रदायेष्वपि श्रीशिवेन सह श्रीकृष्णस्याभेदकता अपृथग्दर्शनं भगवद्भक्तलक्षणमित्यर्थः ॥३०॥

यद्यपि पूर्व्ववत् शास्त्रपरेषु भागवतशास्त्रपरता भगवद्भक्तलक्षणसिद्धेस्तत्कल्पनयालमिति श्रीभागवतशास्त्र-परतादावत्रापि व्याख्या घटते, तथापि श्रीभागवतशास्त्र-परतादौ साक्षादेव श्रीभगवद्भक्तलक्षणसिद्धेस्तत्कल्पनयालम् । अतएव लिखति—अन्यच्चेति । तेषां श्रीभगवद्भक्तानां साक्षाद्भक्त्यात्मकं भक्तिस्वरूपम्, अतएव पूर्व्वं सर्व्वत्र भक्तिहेतुरिति घटितम् ॥३१॥

जन्म, कर्म, वर्ण, आश्रम एवं जाति द्वारा अहंभाव को प्राप्त नहीं करते हैं, वे ही श्रीहरि के प्रिय हैं । ज्ञान, अनासक्ति, अमानिता प्रभृति भावसमूह, किञ्चित् परिचर्य्यादि भक्ति द्वारा ही भक्ति के परिपोषक होते हैं, अतएव पूर्व पूर्व भाव से उनकी उत्तमता होती है ॥२८-२६॥

शैवेषु श्रीशिवकृष्णाभेदकाः

शैवसमूह के मध्य में श्रीशिव एवं श्रीकृष्ण में अभेद ज्ञानकारी व्यक्तिगण ही वैष्णव हैं । बृहन्नारदीय पुराण में उक्त है—परमेश्वर शिव एवं परमात्मा विष्णु में जो जन समबुद्धि सम्पन्न हैं वे सब ही भागवतोत्तम हैं ॥३०॥

भगवद्भक्तगणों के अन्यान्य भगवत्शास्त्रपरतादि भगवद्भक्ति के लक्षण होने पर भी, अधुना साक्षात् भक्तिस्वरूप भगवद्भक्ति का मुख्य लक्षण लिखित होरहा है ॥३१॥

श्रीभागवतशास्त्रपरता

स्कान्दे—

येषां भागवतं शास्त्रं सदा तिष्ठति सन्निधौ । पूजयन्ति च ये नित्यं ते स्युर्भागवता नराः ॥३२॥

येषां भागवतं शास्त्रं जीवितादधिकं भवेत् । महाभागवताः श्रेष्ठा विष्णुना कथिता नराः ॥३३

वैष्णवसम्मान-निष्ठा

लैङ्गे—

विष्णुभक्तमथायातं यो दृष्ट्वा सुमुखः प्रियः । प्रणामादि करोत्येव वासुदेवे यथा तथा ।
स वै भक्त इति ज्ञेयः स पुनाति जगत्त्रयम् ॥३४॥

रुक्षाक्षरा गिरः शृण्वन् तथा भागवतेरिताः । प्रणामपूर्व्वकं क्षान्त्वा यो वदेद्वैष्णवो हि सः ॥३५

भोजनाच्छादनं सर्व्वं यथाशक्त्या करोति यः । विष्णुभक्तस्य सततं स वै भागवतः स्मृतः ॥३६

गारुड़े—

येन सर्व्वात्मना विष्णुभक्त्या भावो निवेशितः । वैष्णवेषु कृतात्मत्वान्महाभागवतो हि सः ॥३७

भागवतं भगवतारं श्रीमद्भागवताख्यं वा ॥३२॥

यद्यपि वैष्णवसम्मानन-मात्रमेव भक्तिहेतुत्वेन पूर्व्ववद्भगवद्भक्तलक्षणं स्यात्, तथापि कदाचिदन्यस्या-प्यानिष्थादिना तत् घटत इति भगवद्व्रतपरतादिवत् तत्परत्वाभावेन भगवद्भक्तत्वहानि-प्रसङ्गादत्र निष्ठा-शब्दप्रयोगः । एवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥३४॥

तथेति पूर्व्वसमुच्चये, अनिर्व्वचनीया इति वा,भागवतेन वैष्णवेन ईरिता उक्ता गिरो वाक्यानि शृण्वन्नपि; क्षान्त्वा ता गिरः सोढ्वा, वदेत् सम्भाषेत् ॥३५॥

यथाशक्त्या यथाशक्ति; यद्वा, यथा यथावत् शक्त्या स्वशक्ति न्यस्येत्यर्थः ॥३६॥

श्रीभागवतशास्त्रपरता

स्कन्दपुराण में लिखित है— जिनके समीप में सर्वदा भागवतशास्त्र विद्यमान है, एवं जो नित्य भागवत शास्त्र की पूजा करते हैं वे सब मनुष्य भागवत नाम से अभिहित होते हैं, भागवत शास्त्र, जिनका निज जीवन से भी अत्यधिक मूल्यवान् है, वे सब श्रेष्ठमानवगण ही महाभागवत नाम से कीर्त्तित होते हैं ॥३२-३३

वैष्णवसम्मान-निष्ठा

लिङ्गपुराण में वर्णित है—वासुदेव को जिस प्रकार प्रणाम किया जाता है, तद्रूप, विष्णुभक्त को आता हुआ देखकर जो प्रफुल्ल वदन एवं प्रीति पूर्वक उनको प्रणाम करते हैं, उन्हीं को भगवद्भक्त जानना चाहिये, उन्हीं के द्वारा त्रिभुवन पवित्र होते हैं। जो भगवद्भक्त के मुखोच्चरित रुक्ष वचन को सुनकर सहिष्णुता अवलम्बन पूर्वक प्रणाम कर सम्भाषण करते हैं, वे निश्चय ही वैष्णव हैं ॥३४-३५॥

जो सर्वदा साध्यानुसार भगवद्भक्तों का भोजनाच्छादन निर्वाह प्रभृति करते हैं, उनको अवश्य ही भगवद्भक्त कहा जाता है ॥३६॥

गरुड़पुराण में लिखित है—जो सर्वतोभावेन विष्णुभक्ति में निविष्ट चित्त होकर वैष्णववृन्द में आत्म-समर्पण किये हैं, वे निश्चय ही महाभागवत नाम से अभिहित होते हैं ॥३७॥

श्रीतुलसीसेवा-निष्ठा

बृहन्नारदीये श्रीभगवन्मार्कण्डेय-संवादे—

तुलसीकाननं दृष्ट्वा ये नमस्कुर्व्वते नराः। तत्काष्ठाङ्कितकर्णा ये ते वै भागवतोत्तमाः ॥३८॥

तुलसीगन्धमाघ्राय सन्तोषं कुर्व्वते तु ये। तन्मूलमृद्धृता यैश्च ते वै भागवतोत्तमाः ॥३९॥

श्रीभगवतः कथापरता

बृहन्नारदीये श्रीभगवन्मार्कण्डेय-संवादे—

मत्कथाश्रवणे येषां वर्त्तते सात्त्विकी मतिः। तद्वक्तरि सुभक्तिश्च ते वै भागवतोत्तमाः ॥४०॥

स्कान्दे श्रीभगवदर्जुन-संवादे—

मत्कथां कुरुते यस्तु मत्कथाञ्च शृणोति यः। हृष्यते मत्कथायाञ्च स वै भागवतोत्तमः ॥४१॥

तृतीयस्कन्धे (२५।२३) तत्रैव—

मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च। तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥४२

तस्यास्तुलस्या मूलस्य मृत् मृत्तिका तिलकादि-रूपेण भालादौ यैर्धृता ॥३९॥

एवं भक्ति-बाह्याङ्गवतां भगवद्भक्तानां लक्षणानि लिखित्वेदानीं भक्त्यन्तरङ्गवतां लक्षणानि लिखति—मत्कथेत्यादिना यावदेतल्लक्षणसमाप्ति। सात्त्विकी कामादिरहिता स्थिरा वा, तस्या मत्कथाया वक्तरि कथके ॥४०॥

एतान् मत्कथायाः श्रोतॄन् वक्तॄंश्च तापा आध्यात्मिकादयो न तपन्ति, न व्यथयन्ति। कुतः? कथयैव मद्गतं चेतो येषां तान्; यद्वा, ये तापैर्नाभिभूयन्ते, ते साधव इत्यत्रार्थो द्रष्टव्यः, साधुलक्षणान्तरुक्तत्वात्। ततश्च श्रवणादित्रयं तापानभिभूतत्वं चैकमित्येवं लक्षणचतुष्टयमुक्तम्; यद्वाः मद्गतचेतस इति—मत्स्मरण-परांश्च न तपन्तीत्यर्थः; एवं क्रमेण श्रवणकीर्त्तन-स्मरणपराणां माहात्म्यं ज्ञेयम्; ते साधव इति—साधु-लक्षणान्तःपातित्वात् स्वत एवायाति ॥४२॥

श्रीतुलसीसेवा-निष्ठा

बृहन्नारदीय पुराण के श्रीभगवन्मार्कण्डेय-संवाद में लिखित है—तुलसी कानन को देखकर जो प्रणाम करते हैं एवं तदीय काष्ठ का कर्णभूषण धारण करते हैं, वे सब निश्चय ही भागवतोत्तम हैं। तुलसी गन्ध आघ्राण पूर्वक जो सन्तुष्ट होते हैं, एवं तुलसी मूलस्थ मृत्तिका के द्वारा ललाटादि में तिलक रचना करते हैं, वे सब निश्चय ही भागवतोत्तम हैं ॥३८-३९॥

श्रीभगवतः कथापरता

बृहन्नारदीय पुराण के श्रीभगवान्-मार्कण्डेय-संवाद में उक्त है—मेरी कथा को सुनकर जिनकी सात्त्विकी मति उत्पन्न होती है, और मेरी कथा कहने वाले के प्रति जिसकी सुभक्ति विद्यमान है, निश्चय ही वे सब भागवतोत्तम हैं ॥४०॥

स्कन्दपुराण के श्रीभगवदर्जुन-संवाद में वर्णित है—जो मानव, मेरी कथा कीर्त्तन, मेरी कथा श्रवण, एवं मेरी कथा में आनन्द प्रकाश करते हैं, निश्चय ही वे सब भागवोत्तम हैं ॥४१॥

तृतीय स्कन्ध में लिखित है—हे मातः! जो मानव, मुझमें अभिनिविष्ट चित्त होकर मेरी विशुद्ध कथा श्रवण अथवा कीर्त्तन करते हैं, उनकी आध्यात्मिकादि विविध ताप, तापित करने में समर्थ नहीं होते हैं।४२

नामपरता

बृहन्नारदीये तत्रैव—

मन्मानसाश्च मद्भक्ता मद्भक्तजनलोलुपाः । मन्नामश्रवणाशक्तास्ते वै भागवतोत्तमाः ॥४३॥
येऽभिनन्दन्ति नामानि हरेः शृण्वन्ति हर्षिताः । रोमाञ्चितशरीराश्च ते वै भागवतोत्तमाः ॥४४

तत्रैवान्यत्र—

अन्येषामुदयं दृष्ट्वा येऽभिनन्दन्ति मानवाः । हरिनामपरा ये च ते वै भागवतोत्तमाः ॥४५॥

स्मरणपरता तत्र स्वधर्म्मनिष्ठया रागद्वेषादिनिवृत्त्या स्मरणम्

श्रीविष्णुपुराणे यम-तद्दूत-संवादे—

न चलति य उच्चैः श्रीभगवत्पदारविन्दे, सितमनास्तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥४६॥

मद्भक्ता इति—मत्सेवादिपरा इत्यर्थः। यद्यप्येवं लक्षणचतुष्टयमुक्तं, तथाप्यन्यत्र स्मरणादित्रयवृत्तेरत्र नामपरताप्रकरणे नामश्रवणासक्तत्वमेव एकं लक्षणम्, तत्त्रयञ्च तत्र दृष्टान्तत्वेन ज्ञेयम्; एवमन्यत्रापि ॥४३॥

नामपरा इति—नाम-श्रवणकीर्त्तनादिकारिण इत्यर्थः ॥४५॥

एवं कथापरतया नामपरतया च भगवद्भक्तानां श्रवण-कीर्त्तनपरत्वं लक्षणं लिखित्वा इदानीं 'न चलति' इत्यादिना 'अर्कतापः' इत्यन्तेन स्मरणपरत्वं लक्षणं लिखन् तत्र विशेषं लिखति—तत्रेति। स्वधर्म्मनिष्ठया रागता द्वेषाच्च; आदि-शब्देन कलिकलुषलोभादेश्च सकाशान्निवृत्तिरुपरतिः, तया यत् स्मरणम्।

तत्र तु स्मरणपरं श्रीमद्भगवद्भक्तं ससाधनं निर्दिशति—न चलतीति। उच्चैः श्रीकृष्णविषयकत्वादति-शयेन सितं स्वच्छं रागादिरहितं मनो यस्य; यद्वा, प्रस्तावादर्थापत्त्या विष्णावेव, किंवा उच्चैः परमं ततरे अत्यन्त-दुर्लभे श्रीभगवच्चरणारविन्दे सितं बद्धं मनो येन तं विष्णुभक्तं विद्धि। सितमनस्तस्याविज्ञेयत्वात् ज्ञापकचिह्नान्याह—न चलतीति। विष्णोरियमाज्ञेत्येवं हि क्रियमाणः स्वधर्म्मो विष्णुं प्रीणयन् सत्त्व-शुद्धि-द्वारा तद्भक्तिहेतुत्वेनात्र स्मरणस्य साधनम्। शुद्धसत्त्वस्य रागाद्यभावादात्मनः सुहृत्पक्षे विपक्षपक्षे च समचित्त्वं, परस्वहरणादिनिवृत्तिश्च स्वत एव भवतीति तदपि तस्य साधनमुत्पद्यत एव। ततश्चैवं व्याख्येयम्—यो न चलति, स उच्चैः सितमनाः स्यात्, तञ्च विष्णुभक्तं विद्धीति। तत्र च स्वधर्म्मनिष्ठादीनां स्वातन्त्र्येण सर्व्वेषामपि साधनत्वं, किंवा यथासम्भवं हेतुहेतुमत्त्वं द्रष्टव्यम्; एवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥४६॥

नामपरता

बृहन्नारदीय पुराण के उक्त स्थान में वर्णित है—मुझमें समर्पित चित्त मेरा भक्त, मेरी सेवादि में निष्ठावान्, मेरे भक्तों के प्रति प्रेमवान् एवं मेरे नामश्रवण में अनुरक्त चित्त हैं, इस प्रकार व्यक्तिगण निश्चय ही भागवतोत्तम हैं ॥४३॥

श्रीहरिनाम श्रवण से जिनका हृदय आनन्दित होता है एवं जो हृष्ट चित्त से श्रीहरिनाम श्रवण करते हैं, एवं श्र हरिनाम श्रवण से रोमाञ्चित कलेवर होते हैं, वे सब निश्चय ही भागवतोत्तम हैं ॥४४॥

बृहन्नारदीय पुराण के अन्यत्र वर्णित है, अपर की उन्नति को देखकर जो लोक आनन्दित होते हैं, एवं जो लोक हरिनाम परायण हैं, वे सब निश्चय ही भागवतोत्तम हैं ॥४५॥

स्मरणपरता तत्र स्वधर्म्मनिष्ठया रागद्वेषादिनिवृत्त्या स्मरणम्

श्रीभगवान् के नाम स्मरण में तत्परता का वर्णन करते हैं। इस विषय में स्वधर्म निष्ठा द्वारा राग-द्वेषादि का अपगम होने से ही स्मरणोदय होता है। श्रीविष्णुपुराण के यम एवं यमदूत संवाद में लिखित है - जो मानव, विषय स्वभाव से विचलित नहीं होते हैं, अतएव श्रीभगवत्-पदारविन्द में अतिशय रतचित्त हैं, उनको भगवद्भक्त जानना होगा। अथवा भगवत्पदारविन्द को ही जिन्होंने परम महत्त्व से अवलम्बनीय

कलिकलुषमलेन यस्य नात्मा, विमलमतेर्मलिनीकृतस्तमेनम् ।
मनसि कृतजनार्द्दनं मनुष्यं, सततमवेहि हरेरतीवभक्तम् ।।४७।।
कनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्धया, तृणमिव यः समवैति परस्वम् ।
भवति च भगवत्यनन्यचेताः, पुरुषवरं तमवेहि विष्णुभक्तम् ।।४८।।
स्फटिकगिरिशिलामलः क्व विष्णु,-र्मनसि नृणां क्व च मत्सरादिदोषः ।
न हि तुहिनमयूखरश्मिपुञ्जे, भवति हुताशनदीप्तिजः प्रतापः ।।४६।।
विमलमतिरमत्सरः प्रशान्तः, शुचिचरितोऽखिलसत्त्वमित्रभूतः ।
प्रियहितवचनोऽस्तुमानमायो, वसति सदा हृदि तस्य वासुदेवः ।।५०।।

अस्यैव प्रपञ्चः—कलिकलुष इत्यादिना । यद्वा, न हरति, न चलतीत्यादिना परस्वहरण-परद्रोहनिवृत्ति-लक्षणमात्र-पापनिवृत्तिरुक्ता; इदानी कलिकालीन-विविधपापवर्गनिवृत्तिरेव विष्णुभक्तस्य साधनं स्वभावं वा लिखति—कलीति । आत्मा बुद्धिः मनो वा, मनसापि पापं यो नाचरति, किं पुनर्वाचा कायेन वेत्यर्थः । अतः मनसि सततं कृतो जनार्द्दनो येन तम्, अतीवेति—परमदुस्तरकलिकालीनपापपरम्परया प्रमादादिना कथञ्चिदप्यस्पर्शात् ।।४७।।

अधुना पापमूल-लोभराहित्यञ्च विष्णुभक्तस्य पूर्व्ववत् साधनं स्वभावो वेत्याह—कनकमपीति । परस्वं कनक मित्यन्वयः, अवेक्ष्य दृष्ट्वा बुद्धया तृणमिव समवैति, अत्यन्ततुच्छबुद्धया नादत्त इत्यर्थः ।।४८।।

अधुना निःशेषदोषराहित्यं विष्णुभक्तस्य साधनातिशयं स्वभावं वेति वदन् तदेव द्रढयन् बोधवतान्तु श्रीभगवान्न सुदूरतर इत्याह—स्फटिकेति, स्फटिकगिरेः शिलेवामलः, अतो मत्सरादिदोषवतां मनसि विष्णुर्न सम्भवत्येवेति दृष्टान्तेन बोधयति—न हीति । तुहिनमयूखश्चचन्द्रस्तस्य रश्मीनां पुञ्जे सति विषये वा, एवं दृष्टान्तेन क्वद्वयोक्तमन्योऽन्यविरोधित्वं साधितम् ।।४६।।

अशेषसद्गुणवतामेव चित्ते भगवान् सदा परिस्फुरतीत्यतः सद्गुणवत्तैव तस्य साधनं स्वभावो वेति लिखति—विमलेति । अत्र प्रथमपदत्रयेणान्तःकरणे सद्गुणो दर्शितः; विमलमतेरेव विवरणम्—'अमत्सरः

माना है एवं विषयों का आकर्षण से आकृष्ट मनाः नहीं हुआ है, तथा स्वधर्म परायणता का निर्वाह सुन्दर रूप से किया है, उनको ही भगवद्भक्त समझना होगा ।।४६।।

कलिकलुषरूप मालिन्य के द्वारा जिनका चित्त मलिन नहीं होता, अर्थात् जो व्यक्ति मन से भी परस्व हरण परद्रोह प्रभृति निषिद्धाचरण नहीं करते हैं, अतएव शरीर से भी उक्त पापाचरण नहीं करते हैं, अतएव निरन्तर मनोमध्य में भगवान् जनार्दन को धारण करते हैं, उन्हीं को श्रीहरि का परमभक्त जानना चाहिये ।।४७।।

निर्जन स्थान में निपतित परस्व सुवर्ण को देखकर भी जो व्यक्ति निजबुद्धि से उसको तृणवत् अनुपादेय मानता है, एवं जिसका मन, श्रीभगवान् में एकान्त आसक्त है, उसी पुरुष प्रवर को विष्णुभक्त जानना चाहिये ।।४८।।

स्फटिक गिरिशिला के समान निर्म्मल चरित्र श्रीविष्णु कहाँ ? और मानववृन्दों के मनोगत मत्सरादि दोष कहाँ ? अर्थात् मनुष्यवृन्द के जिस मन में निर्मल चरित्र श्रीविष्णु स्फूर्त्तिशील हैं, वहाँ मत्सरादि दोष नहीं रह सकते हैं। जिस प्रकार चन्द्र-रश्मि-पुञ्ज में अग्नि का उद्दीप्त उत्ताप अनुभव नहीं होता है, उस प्रकार उभय में महदन्तर है। निःशेष दोषराहित्य ही विष्णुभक्त का स्वभाव है ।।४६।।

अमलमति, निर्मत्सर, प्रशान्त, विशुद्ध आचरणयुक्त, अखिल प्राणियों का स्वभावतः हितकारी अर्थात्

वसति हृदि सनातने च तस्मिन्, भवति पुमान् जगतोऽस्य सौम्यरूपः ।
क्षितिरसमतिरम्यमात्मनोऽन्तः, कथयति चारुतयैव शालपोतः ।।५१।।

अन्यविजये वैराग्यादिना च स्मरणम्

एकादश स्कन्धे श्रीहवियोगेश्वरोत्तरे (२।४६,५३-५४)—

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो, जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्म्मैरविमुह्यमानः, स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ।।५२।।

प्रशान्तश्च रागद्वेषादिरहितः' इति । यद्यपि विमलमतित्वेनैव कामाद्यरिषड्वर्गजयेऽपि वृत्तः, तथापि परम-दुर्ज्जयस्य मत्सरदोषस्य जये सत्येव विमलमतिता स्यादित्यभिप्रायेणामत्सर इति पृथगुक्तिः; यद्वा विमल-मतित्वे हेतुः—अमत्सर इति; तत्रापि हेतुः—प्रशान्त इति । एवमपि तथैवार्थः । कर्म्मणि सद्गुणं दर्शयति—शुचि शुद्धं चरितं यस्य; किञ्च अखिलानां सत्त्वानां प्राणिनां मित्रभूतः, स्वभावतो हितकारी; वचसि सद्गुणं दर्शयति—प्रियं सर्व्वेषां श्रवणमनःसुखावहं हितञ्च परिणामेऽपि शुभकरं वचनं यस्य, तच्च न दाम्भिकत्वेन, किन्तु विशुद्धभावेनैव । किञ्च, तथापि न गर्व्वस्पर्श इति—निर्द्दम्भ-निरहङ्कारतालक्षणगुणविशेषमाह—अस्ते निरस्ते मानमाये गर्व्वदम्भौ येन सः; यद्वा, मान एव भगवन्माया, अविद्यामूलकाखिलदोषाणामहङ्कार-प्राधान्यात्, अहङ्कारमूलत्वाच्चाखिलमायिकप्रपञ्चस्य । अन्यत् पूर्व्ववदेव । एवञ्च सति सर्व्वसद्गुणमूल-निरहङ्कारतैव दर्शिता ।।५०।।

रुचिरप्रसन्नरूपता च प्रकटमेव, तस्य लक्षणं स्वभाव एव वेति लिखति—वसतीति । मुखप्रसादादिचिह्नैः तदन्तःस्थं परमानन्दघनं श्रीविष्णुं सूचयतीत्यत्रान्यार्थनिदर्शनमाह—क्षितीति । चारुतया कोमलतया शालपोतः शालवृक्षः सर्ज्जस्य शिशुर्वा आत्मनोऽन्तःस्थितं परमोत्तमं क्षितिरसं कथयति सूचयतीत्यर्थः । एवं च 'उच्चैः सितमनसम्' इति, 'मनसि कृतजनार्द्दनम्' इति, 'भगवदनन्यचेताः' इति, 'वसति सदा हृदि तस्य' इत्यादिना भगवच्छरणपरतैवोक्ता । स्वधर्म्मनिष्ठादीनि च तस्य स्वाभाविकानि साधनानि वा विविच्य द्रष्टव्यानीति पुरा लिखितमेव । अत्र च सौम्यरूपता प्रायो लक्षणेष्वेवान्तर्भवति, 'अविभ्रन् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया' इत्याद्युक्तेरित्येषा दिक् ।।५१।।

अन्यविजयेन अन्यवैराग्येण च, आदि-शब्दात् श्रद्धादिना च यत् स्मरणं तत्, तत्रान्यविजयेन स्मरणम्—देहेन्द्रियेति । हरेः स्मृत्या हेतुना देहादीनां संसारधर्म्मैर्जन्माप्ययादिभिः कृत्वा योऽविमुह्यमानः, न बाधितो

मित्र, समस्त प्राणियों के प्रति श्रवण मनः सुखावह एवं परिणाम में हितकर उपदेष्टा, यह केवल कपटपूर्वक नहीं, किन्तु गर्व दम्भ रहित रूप से ही है । अतएव गर्व दम्भ वर्जित है । मान ही भगवन्माया है, मायामूलक अखिल दोष हैं, उसमें अहङ्कार का भी प्राधान्य है, मायिक प्रपञ्च, अहङ्कार मूलक है । अतः निरहङ्कारता ही सर्व सद्गुणों का मूल है । इस प्रकार स्वभावाक्रान्त व्यक्ति के हृदय में वासुदेव सर्वदा निवास करते हैं ।।५०।।

शालवृक्ष यद्रूप कोमलतानिबन्धन स्वीय अन्तरस्थ परम उत्तम पृथ्वीरस की सूचना करता है । तद्रूप-सनातन श्रीविष्णु-हृदय में निवास करने से वह पुरुष भी मनोहर मूर्त्ति सम्पन्न होता है ।।५१।।

अन्यविषये वैराग्यादिना च स्मरणम्

अन्य विषय में वैराग्य होने से ही श्रीकृष्ण स्मरण सम्पन्न होता है, सोदाहरण उसका वर्णन करते हैं । एकादशस्कन्ध में श्रीहवियोगेन्द्र के उत्तर में वर्णित है—श्रीहरिस्मरणनिबन्धन, शरीरोत्पत्ति एवं लय, प्राण की क्षुधा, चित्त की भीति, बुद्धि की तृष्णा, एवं इन्द्रिय वर्ग के श्रमरूप संसार धर्म द्वारा जो व्यक्ति विमुग्ध नहीं होते हैं, उन्हीं को भागवत प्रधान जानना होगा ।।५२।।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ,-स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा,-ल्लवनिमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्र्यः ।।५३।।
भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा,-नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स, प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ।।५४।।

भवति, तथा सर्व्वेन्द्रियवृत्त्यादिजयेनान्यविस्मरणात् स भागवतप्रधानः । तत्र देहस्य जन्माप्ययौ, प्राणस्य क्षुत्, मनसो भयं, बुद्धेस्तर्षस्तृष्णा, इन्द्रियाणां कृच्छ्रं श्रमः ; यद्वा, देहादीनां जन्मादिभिरन्यैश्च संसारधर्म्मैः सुखदुःखादिभिरविमुह्यमानः सन्, यः स्मृत्या विशिष्टो भवति । एवं बहुविघ्नजयेन स्मरणपरो भागवतश्रेष्ठ इत्यर्थः ।।५२।।

अन्यवैराग्यादिना स्मरणम्— 'त्रिभुवन'- इति, त्रैलोक्यराज्यार्थमपि; यद्वा, त्रीणि भुवनानि यस्माद्विधातुस्तस्य विभवः पारमेष्ठ्यं पदं, तदर्थमपि; यद्वा, त्रिभुवनस्यापि, किमुतात्मनो यो विभवः भवाभावो मोक्षः, तदर्थमपि लवार्द्धमपि निमिषार्द्धमपि भगवत्पदारविन्दभजनात् यो न चलति, स वैष्णवाग्र्यः । ननु लवार्द्ध-निमिषार्द्ध-भजनोपरमे चैतावान् लाभो भवेत्, तत् कुतो न चलेत् ? तत्राह— अकुण्ठस्मृतिः, भगवत्पदारविन्दतोऽन्यन् सारं नास्तीत्येवंरूपा अकुण्ठा अनपगता स्मृतिर्यस्य सः । भगवत्पदारविन्दादन्यत् सारं नास्तीति कुतः ? अत आह—अजिते हरावेव आत्मा येषां तथाभूतैः सुरादिभिरपि दुर्ल्लभात्; किन्तु केवलं विमृग्यात्, तदपेक्षया सर्व्वस्य तुच्छत्वं स्मरन् यो न चलतीत्यर्थः ; यद्वा, भगवत्पदारविन्दाद्हृदि गृहीतात् न चलति न स्मरणाद्विरमतीत्यर्थः । त्रिभुवनविभवार्थः लवनिमिषार्द्धमपि ततोऽचलने हेतुः— अकुण्ठा अनवच्छिन्ना स्मृतिर्यस्य । सदैव भगवत्स्मृत्या अन्यस्य मनसि प्रवेशाभावादिति स्मरणस्यैव परमपुरुषार्थतामाह—अजितम् अपरिच्छेदादिना अवशीकृतं ब्रह्म तदात्मानस्तत्स्वरूपा मुक्ता इत्यर्थः । तादृशा ये सुरा ब्रह्मादयः, आदि-शब्दात् मुन्यादयश्च, तैरपि विमृग्याद्विशेषतः प्रार्थ्यादिति; अन्यत् समानम् ।।५३।।

किञ्च, विषयाभिसन्धिना चलनमपि कामेनातितापे सति भवेत्, तत्तु भगवत्सेवानिर्वृतौ न सम्भवतीत्याह भगवत इति । उरुविक्रमौ च तावङ्घ्री च तयोः शाखा अङ्गुलयः, तासु नखानि तान्येव मणयः तेषां चन्द्रिका शीतला दीप्तिः, तया निरस्तः कामादितापो यस्मिन् । उपसीदतां भजतां हृदि कथं पुनः स तापः प्रभवति ? चन्द्रे उदिते सति अर्कस्य ताप इव । यद्वा, अहो इतः पूर्व्वं चिरं वञ्चित आसम्, 'अहो वत किञ्चित्तावद्-भगवदन्तर्द्धानं भविता', 'हा हन्त-कदा साक्षादिमं द्रक्ष्यामि' इत्यादि-तापोऽपि तस्य सदा तत्स्मरणानन्दतो न स्यात् कुतोऽन्यकामदुःखमित्याह— भगवत इति । उरवो महान्तो विक्रमाः शकटपरिवर्त्तन-कालीयमर्द्दनाद्या यस्य तस्यैकस्याप्यङ्घ्रेः, शाखा-शब्देन कल्पद्रुमत्वं रूप्यते, श्रीचरणकल्पद्रुमस्य शाखा स्वल्पांशवत् कनिष्ठाङ्गुलिः, तन्नखमणिचन्द्रिकयैवैकया तत् सकृत्स्मरणमात्रानन्दविशेषेणैवेत्यर्थः, निरस्तः तापः, 'इतः पूर्व्वं चिरं वञ्चितोऽस्मि' इत्यादिरूपोऽपि यस्मात् तस्मिन् हृदि स तापः कथमुपसीदतां समीपमायातु ? तत्र तत्र दृष्टान्तेनार्थान्तरमुपन्यस्यति— चन्द्रे उदिते इव उद्गतप्रायेऽपि सति अर्कतापः प्रभवति किम् ? काक्वा अपि तु, सन्ध्यायामपि न किञ्चित् कर्त्तुं शक्नोतीत्यर्थः । एवं स्मरणानन्दनिष्ठया यः केनापि तापेन नाभिभूतः, स च वैष्णवाग्र्य इति भागवत-लक्षणान्तरुक्तत्वात् पूर्व्ववदिदमपि लक्षणमेवूह्यम् ।।५४।।

त्रिभुवनगत विभवसमूह कर तल होने पर भी, इन्द्रादि देवगण कर्त्तृक अन्वेषणीय भगवच्चरणारविन्द से लव निमिषार्द्ध काल के निमित्त विचलित न होकर जो व्यक्ति, भगवत्पदारविन्द को ही सार जानकर स्थिर किये हैं, वे ही वैष्णवाग्रणी हैं ।।५३।।

चन्द्रोदय होने से जिस प्रकार भास्कर ताप विदूरित होता है, उस प्रकार भगवान् त्रिविक्रम की चरणाङ्गुलनखरूप मणि की शीतल दीप्ति के द्वारा उपासक के हृदय ताप निवारित होने से पुनर्वार किस प्रकार उसका अभ्युदय होगा ? ।।५४।।

अथ पूजापरता

स्कान्दे तत्रैव—

येऽर्च्चयन्ति सदा विष्णुं यज्ञेशं वरदं हरिम् । देहिनः पुण्यकर्म्माणः सदा भागवता हि ते ॥५५

लैङ्गे—

विष्णुक्षेत्रे शुभान्येव करोति स्नेहसंयुतः । प्रतिमाञ्च हरेर्नित्यं पूजयेत् प्रयतात्मवान् ॥५६॥

विष्णुभक्तः स विज्ञेयः कर्म्मणा मनसा गिरा । नारायणपरो नित्यं भूप भागवतो हि सः ॥५७

अथ वैष्णवधर्म्मनिष्ठतादि

पाद्मोत्तरखण्डे—

तापादिपञ्चसंस्कारी नवेज्याकर्म्मकारकः । अर्थपञ्चकविद्विप्रो महाभागवतो हि सः ॥५८॥

एवं श्रवणकीर्त्तन-स्मरणपरतारूपं भगवद्भक्तलक्षणं क्रमेण लिखित्वा इदानीमर्च्चनादिपरतालक्षणं लिखति—येऽर्च्चयन्तीति त्रिभिः । यद्यपि 'श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्च्चनं वन्दनम्' इत्यादि-भक्तिलक्षणाभिधायि-प्रसिद्धवचनेऽग्रे लेख्येषु स्मरणानन्तरमेव पादसेवोक्तेः स्मरणपरतानन्तरं पादसेवापरतैव लिखितुं युज्यते, तथापि प्रायः पादसेवार्च्चनयोरेकरूपत्वेनैक्याभिप्रायादर्च्चनपरतैव लिखितेति ज्ञेयम् । अर्च्चने हेतुत्वेन योग्यत्वेन वा यज्ञेशमित्यादि-विशेषणत्रयम् । एवार्थे हि-शब्दः, त एव पुण्यकर्म्माणः, त एव च भागवताः, शुभानि यात्रोत्सवादीनि, स्नेहो भक्तिः ; अनुक्तं सङ्गृह्णाति; एवं कर्म्मणा परिचर्य्यादिना, मनसा स्मरणादिना, गिरा च स्तुत्यादिना यो नारायणपरः, स च भागवत एवेति । एवं परिचर्य्या-वन्दनादीनां पूजाङ्गत्वं, तत्तत्परतापि भगवद्भक्तलक्षणमेवोह्यम्, तच्च स्वमेवाग्रे लेख्यं, लक्षणानि च यान्यग्र इति ॥५५-५६॥

एवमेकैकलक्षणेन एकैकस्य भागवतस्य लक्षणं लिखित्वा अधुना मुद्राधारणादिना समुचित-श्रवणादिना ज्ञानविशेषेण च लक्षणं लिखति—तापादीति, तापः तप्तमुद्राधारण, तदादि पञ्चसंस्कारयुक्तः, पञ्च संस्काराश्च तत्रैवोक्ताः—'तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागस्तु पञ्चमः' इति । अस्यार्थः—नाम श्रीकृष्णदासेत्यादि, मन्त्रः श्रीगुरोः सकाशात् मन्त्रग्रहणं, यागः—होमपूर्व्वक-यथाविधिदीक्षाग्रहणमित्यर्थः, नव इज्याकर्म्माणि पूजा-सम्बन्धिकृत्यानि श्रवणादीनि पाद्मोक्तार्च्चनादीनि वा, सर्व्वेषां तेषां पूजाङ्गत्वात् । तानि च तत्रैवोक्तानि—'अर्च्चनं मन्त्रपठनं यागयोगौ महात्मनः । नामसंकीर्त्तनं सेवा तच्चिह्नै रङ्कनं तथा । तदीयाराधनं चर्य्या नवधा भिद्यते शुभे ॥' इति । अस्यार्थः—हे शुभे पार्व्वति ! अर्च्चनं यथाविध्युपचारार्पणं, यागो नित्यहोमः, योगो मनसि भगवतः संयोजनं ध्यानादीत्यर्थः, सेवा प्रणामः, तस्य महात्मनो भगवतश्चिह्नैः चक्रादिभिरङ्कनं, गोपीचन्दनादिना स्वाङ्गेषु लिखनं, चर्य्या परिचर्य्या, अर्थपञ्चकं चत्वारो धर्म्मादयः पुरुषार्थाः, पञ्चम-

---

अथ पूजापरता

स्कन्दपुराण के उक्त स्थल में लिखित है—जो मनुष्य, सर्वदा वरदेश्वर यज्ञेश्वर श्रीहरि की पूजा करते हैं वे सब ही पुण्यकर्मा भागवत नाम से अभिहित होते हैं ॥५५॥

लिङ्गपुराण में लिखित है—हे राजन् ! भक्तिमान् होकर श्रीहरिक्षेत्र में देवादिदेव श्रीविष्णु के यात्रा उत्सव प्रभृति का शुभानुष्ठान जो मानव करते हैं, एवं यत्नपूर्वक नित्य श्रीहरिविग्रह की पूजा करते हैं, वे ही भागवद्भक्त हैं । और जो मानव काय-वाक्य मन से नित्य नारायणपरायण हैं वे भी भागवत हैं ॥५६-५७

अथ वैष्णवधर्म्मनिष्ठतादि

पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में लिखा है—जो विप्र, ताप प्रभृति पञ्च-संस्कार युक्त हैं, नवधा पूजा क्रिया विशिष्ट, एवं अर्थ पञ्चक ज्ञाता हैं, वे अवश्य ही महाभागवत हैं ॥५८॥

एकान्तिकता

गारुड़े—

एकान्तेन सदा विष्णौ यस्माद्देवे परायणाः । तस्मादेकान्तिन प्रोक्तास्तद्भागवतचेतसः ॥५६॥

तद्विज्ञानेनानन्यपरता

एकादशे उद्धवप्रश्नोत्तरे (११।३३)—

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते वै भागवता मताः ॥६०॥

एकादशस्कन्धे (२।५०)—

न कामकर्म्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः । वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥६१॥

सा च एकान्तिता चतुर्द्धा, तत्र धर्म्मानादरेण श्रीमदुद्धव-प्रश्नोत्तर एव (श्रीभा ११।११।३२)—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मया दिष्टानपि स्वकान् ।
धर्म्मान् सन्त्यज्य यः सर्व्वान् मां भजेत् स च सत्तमः ॥६२॥

पुरुषार्थश्च भक्तिरित्येतान् पञ्चार्थान्; यद्वा, पञ्चतत्त्वानि अनात्मात्म-परमात्म-परमेश्वर-तद्भक्तानामित्येवं पञ्चानां याथार्थ्यानि वेत्तीति तथा सः । अशेषवैष्णवधर्म्म-समुचितत्वात् अस्य पूर्व्वतः श्रैष्ठ्यम् । तत्र च विप्रश्चेन्महाभागवतोत्तमः, अन्यस्तु महाभागवत इत्यर्थः ॥५८॥

एवं पृथक् पृथक् भगवद्भक्तानां लक्षणं लिखित्वा इदानीं तैः सर्वैरपि समुचितैर्भगवदेकनिष्ठतारूपं सख्यात्मनिवेदनविशेषात्मकं लक्षणविशेषं लिखति—न कामेति द्वादशभिः । तत्र एकान्तितायाः सामान्य-लक्षणम्—वासुदेवः वासुदेवनन्दनः श्रीकृष्ण एवैको निलय आश्रयो यस्येति । तल्लिङ्गमेव दर्शयति—कामाश्चाभिलाषा विषयभोगा वा, कर्म्माणि तत्कारणानि तत्सिद्धयर्थचेष्टा वा, बीजानि च वासनाः, तन्मूलानि तेषां यस्य चेतस्यपि सम्भव उत्पत्तिर्न स्यादिति । सर्वथा भगवदेकनिष्ठया तदन्यबाह्यान्तरचेष्टादि-रहितो य इत्यर्थः ॥६१॥

सा च सर्वनैरपेक्ष्येण तदेकनिष्ठतारूपा एकान्तिता चतुर्द्धा चतुर्भिः प्रकारैः । एको धर्म्मानादरः, अन्यश्च कर्म्मज्ञानाद्यशेषनिरपेक्षता, अपरो विघ्नाकुलत्वेऽपि रतिपरतापरश्च प्रेमैकपरतेति । तत्र धर्म्मानादरेणैकान्तितां लिखति—आज्ञायैवमिति । मया वेदरूपेणादिष्टान् स्वधर्म्मान् सन्त्यज्य सम्यक् त्यक्त्वा यो मां भजेत् । त्वर्थे चकारः, स तु सत्तमः पूर्व्वोक्तसाधुतः श्रेष्ठ इत्यर्थः । किमज्ञानात् नास्तिक्याद्वा ? न, धर्म्माचरणे एवमीदृशान् कृपालुतादिनदृशान् सत्त्वशुद्धयादिगुणान्, विपक्षे दोषांश्च आज्ञाय सम्यक् ज्ञात्वापि मद्भक्त्यैव सर्व भविष्यतीति दृढ़निश्चयेनैव सर्वधर्म्मान् मन्निष्ठाविक्षेपकतया सन्त्यज्येत्यर्थः ६२॥

एकान्तिकता

गरुड़पुराण में लिखित है—एकान्तभाव से सदा देवदेव श्रीविष्णु के शरणागत होने से वे सब भगवद्-गतचित्त भक्तगण ही एकान्ती नाम से अभिहित होते हैं ॥५६॥

तद्विज्ञानेनानन्यपरता

एकादशस्कन्ध के उद्धवप्रश्नोत्तर में वर्णित है—जो मानव, देश काल अपरिच्छिन्न, सर्वात्मा, सच्चिदानन्द-रूप मुझको जानकर अथवा न जानकर अनन्य भाव से मेरा भजन करते हैं वे सब भी महाभागवत हैं ॥६०

एकादशस्कन्ध में उक्त है—जिस व्यक्ति के चित्त में काम कर्म वासना की उत्पत्ति नहीं होती है, एवं वासुदेव ही जिनके एकमात्र आश्रय हैं, उन्हीं को निश्चय भागवतोत्तम जानना चाहिये ॥६१॥

सा च एकान्तिकी चतुर्द्धा, तत्र धर्म्मानादरेण श्रीमदुद्धव-प्रश्नोत्तर एव

उक्त एकान्तिता चार प्रकार की हैं—(१) धर्मानादरः, (२) कर्म ज्ञानाद्यशेष निरपेक्षता, (३) विघ्ना-

श्रीभगवद्गीतायाम् (१८।६६)—

सर्व्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्व्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।६३।।

चतुर्थस्कन्धे (२९।४७)—

यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ।।६४।।

अन्यसर्व्वनिरपेक्षता

श्रीभगवदुद्धव-संवादे— (श्रीभा ११।२६।२७) ऐलोपाख्याने—

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः । निर्म्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ।।६५

सर्व्वान् नित्यनैमित्तिकादि-कर्म्मलक्षणान् परित्यज्य सर्व्वथा त्यक्त्वा मामेकं शरणं व्रज, मदेकनिष्ठो भवेत्यर्थः । यद्वा, शरणागतत्वमात्रेणापि मामेकमाश्रय, किमुतैकान्तित्वेन ? ननु विहिताकरणेन पापं स्यात्, तत्राह—सर्व्वेभ्यो विहिताकरणजेभ्यः कथञ्चिन्निषिद्धाचरणजेभ्यश्च, तथा संसार-दुःखकारणकर्म्मरूपेभ्यः तद्वासनादिरूपेभ्योऽपि पापेभ्यो मोक्षयिष्यामीति । अतः मा शुचः, पापभयेन भीष्मद्रोणादिवधेन वा शोकं मा कुरु । एवञ्चान्यलोकशिक्षणार्थमर्ज्जुनमधिकृत्योक्तं, न तु तं प्रति तथोपदेशः, तस्य नरावतारत्वेन परम-सख्यादिना च स्वत एव परमभागवतत्वात् ।।६३।।

धर्म्मत्यागस्तु कर्म्मपरलोकवेदापेक्षात्यागेनैव स्यात्, स च भगवतोऽनुग्रहेण भगवद्भक्तस्य स्वतः सम्पद्यत इत्याशयेन लिखति—यदेति । यस्य समनुग्रहे हेतु—आत्मनि मनसि भावितो ध्यातः सन् ; यद्वा, स तदा आत्मभावितः शुद्धचित्तः सन् भगवद्भक्तियुक्तः सन् वा, लोकव्यवहारे वेदे च कर्म्ममार्गे परिनिष्ठितां पूर्व्व-जन्माभ्यासेन परमनिष्ठां प्राप्तामपि मतिं जहाति । अतएव श्रीभगवद्गीतासु (२।४५)—'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्ज्जुन' इति ।।६४।।

एवं धर्म्मानादरेणैकान्तितालक्षणं लिखित्वा इदानीं भगवद्व्यतिरिक्तैहिकामुष्मिकाद्यशेषनैरपेक्ष्येण या एकान्तिता, तल्लक्षणं लिखति–सन्त इति । सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः'(श्रीभा ११।२६।२६) इत्युक्त्यापेक्षितं सतां लक्षणं मुख्यमाह–सन्त इति । अनपेक्षाः मद्व्यतिरिक्ते कुत्रचिदपेक्षारहिता ये ते सन्तः । तत्र हेतुः—मय्येव चित्तं येषां ते; प्रशान्त इत्यादिविशेषणषट्कस्य यथासम्भवं हेतुहेतुमत्तोह्या । तत्र प्रशान्ता रागद्वेषादिरहिताः, समदर्शिनः मित्रे शत्रौ चैकदृष्टयः, निर्म्ममा ममत्वमोहहीनाः, निरहङ्काराः अभिमान-शून्याः, निर्द्वन्द्वाः शीतोष्णादिनाऽनाकुलाः निष्परिग्रहाः अकिञ्चनाः ।।६५।।

कुलत्वेऽपि रतिपरता, (४) प्रेमैकपरतेति । वर्णाश्रमादि धर्म के प्रति अनादर द्वारा भगवद्भक्त का लक्षण श्री उद्धव के प्रश्नोत्तर में प्रकाशित है । हे उद्धव ! जो मानव, मत्कर्त्तृक वेद द्वारा उपदिष्ट स्वधर्मसमूह को परित्याग पूर्वक एवं धर्माधर्म के गुणदोष को जानकर मेरा भजन करते हैं, वे भी सत्तम हैं ।।६२।।

श्रीभगवद्गीता में लिखित है—हे पार्थ ! नित्यनैमित्तिकादि कर्मलक्षण युक्त सर्व प्रकार धर्म परित्याग पूर्वक एकमात्र मेरा ही भजन करो, मेरी ही शरण ग्रहण करो, मैं तुमको समस्त पापों से मुक्त करूँगा । सुतरां पाप भय से कर्त्तव्य पराङ्मुख एवं शोकग्रस्त न हो ।।६३।।

अतएव चतुर्थस्कन्ध में लिखित है—जब प्रभु भगवान् मनोमध्य में ध्यान का विषयीभूत होकर कृपा करते हैं, उसी समय वह पुरुष वेद विषय में परिनिष्ठिता मति को विसर्जन करता है ।।६४।।

अन्यसर्व्वनिरपेक्षता

श्रीमदुद्धव-संवाद के ऐलोपाख्यान में वर्णित है—निरपेक्ष, मद्गतचित्त, प्रशान्त, समदर्शी, निर्मम, निरहङ्कार, निर्द्वन्द्व एवं निष्परिग्रह होने पर ही साधुवृन्द सत् संज्ञा से अभिहित होते हैं ।।६५।।

अतएव श्रीकपिलदेवहूति-संवादे (श्रीभा ३।२५।२४)—

त एते साधवः साध्वि सर्व्वसङ्गविवर्ज्जिताः । सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥६६

विघ्नाकुलत्वेऽपि मनोरतिपरता

स्कान्दे तत्रैव—

यस्य कृच्छ्रगतस्यापि केशवे रमते मनः । न विच्युता च भक्तिर्वै स वै भागवतो नरः ॥६७॥

आपद्गतस्य यस्येह भक्तिरव्यभिचारिणी । नान्यत्र रमते चित्तं स वै भागवतो नरः ॥६८॥

प्रेमैकपरता च

श्रीऋषभदेवस्य पुत्रानुशासने (श्रीभा ५।५।३)—

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था, जनेषु देहम्भरवार्त्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु, न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥६९॥

सर्व्वेण वाह्येन आन्तरेण च सङ्गेन अन्यासक्त्या च विशेषतो वर्ज्जिता रहिताः । एतच्च एकान्तिलक्षणं दर्शितम् । अथ अतः तेष्वेव सङ्गस्त्वया प्रार्थ्यः, स्वतः परमपुरुषार्थत्वेन परमदुर्ल्लभत्वान्मनसापि वाञ्छनीयः, किमुत वक्तव्यं साक्षात्कार्य्य इत्यर्थः । यद्वा, ननु तर्हि तैः सह मम सङ्गो भवता क्रियताम्, तत्राह— तैः सङ्गः तेष्वेव त्वया प्रार्थ्यः । एवार्थे अथ शब्दः, तेषां कृपयैव स्वभक्त्या तत्सङ्गः प्राप्येत, न त्वन्यथेत्यर्थः । ननु सङ्गतः कथञ्चिद्रागद्वेषा अपि सम्भवेयुः, तत्राह—सङ्गे ये दोषास्तान् हरन्तीति तथा ते; यद्वा, सर्व्व-सङ्गविवर्ज्जितानां तेषां सङ्गो गृहादिसङ्गवत्या मया कथं प्राप्यः? तत्राह— सङ्गेति । गृहादिसङ्गदोषं दर्शनमात्रेणैव ते हरिष्यन्तीत्यर्थः ; यद्वा, सङ्ग एव दोषरूपो येषां ते निःसङ्गा यतय इत्यर्थः, तानपि हरन्ति स्वगुणैराकर्षन्तीति तथा ते । अतस्तेषां माहात्म्येनैवाकृष्टा सती स्वयमेव सर्व्वं त्यक्त्वा यास्यतीत्यर्थः । अलमतिविस्तरेण ॥६६॥

रतिर्भावः, स च आगमे 'प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते' इति तत्परतया मनोरम इति रति-रुक्ता । भक्तिः श्रवणादिलक्षणा, भागवतोत्तमा इति वा पाठः, एवमग्रेऽपि । भक्तिरत्र रतिः, अन्यत्र केशव-व्यतिरिक्ते चित्तं न रमते, तत्र प्रेमाकृष्टत्वात् ॥६७-६८॥

अधुना प्रेमैकपरतया यैकान्तिता, तल्लक्षणं लिखति—ये वेति त्रिभिः । पूर्व्वं 'महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ताः' इत्यर्द्ध-श्लोकेन महतां सामान्यलक्षणमुक्त्वा इदानीं मुख्यलक्षणमाह—मयि ईशे भगवति कृतं सौहृदं प्रेमैव अर्थः पुरुषार्थ येषां ते । वा-शब्देनान्यनिरपेक्षस्यैवास्य लक्षणत्वं दर्शितम् । तद्वाह्यलिङ्गमाह—

अतएव कपिलदेवहूति संवाद में उक्त है—हे साध्वि ! सर्वसङ्ग विवर्जित होने से ही उसको साधु कहा जाता है । उस प्रकार साधुसङ्ग ही आपको प्रार्थनीय है । कारण, साधुगण, सङ्गजनित दोष को विदूरित करते हैं ॥६६॥

विघ्नाकुलत्वेऽपि मनोरतिपरता

विघ्नाकुल होने पर भी श्रीकृष्ण में चित्तानुरक्तता का वर्णन करते हैं, स्कन्दपुराण में वर्णित है—विघ्न उपस्थित होने पर भी जिसका मन श्रीहरि में अनुरक्त रहता है, एवं श्रीहरिभक्ति से विचलित नहीं होता है, उनको सुनिश्चित श्रीहरिभक्त कहा जाता है । आपत् प्राप्त होने पर भी जिसमें श्रीहरिभक्ति ऐकान्तिक रूप से विद्यमान रहता है, जिसका मन श्रीहरिव्यतीत अन्यत्र आसक्त नहीं है, उसी को भागवत कहा जाता है ॥६७-६८॥

श्रीमद्भागवत के पञ्चमस्कन्ध में ऋषभदेव के पुत्रानुशासन में वर्णित है—जो ईश्वररूपी मुझमें सौहार्द्य स्थापन करते हैं, एवं उसको ही पुरुषार्थ जानते हैं, विषयानुरक्तजन के प्रति एवं पुत्रकलत्रादि सम्पन्न गृह

त्रिधा प्रेमैकपरता प्रेम्णः स्यात्तारतम्यतः । उत्तमा मध्यमा चासौ कनिष्ठा चेति भेदतः ।।७०।।

तत्रोत्तमा

यथा एकादशे हविर्योगेश्वरोत्तरे (२।४५)—

सर्व्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ।।७१।।

स्वेष्टदेवस्य भावं यः सर्व्वभूतेषु पश्यति । भावयन्ति च तान्यस्मिन्नित्यर्थः सम्मतः सताम् ।।७२।।

श्रीकपिलदेवहूति-संवादे (श्रीभा ३।२५।२२)——

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्व्वन्ति ये दृढ़ाम् । मत्कृते त्यक्तकर्म्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ।।७३।।

देहं बिभर्त्तीति देहम्भरा विषयवार्त्ता एव न धर्म्मादिविषयवार्त्तापि येषु; यद्वा, देहम्भरैव वार्त्ता जीवनोपाय-धनादिर्न तु भगवत्पूजाद्यर्था येषां तेषु जनेषु गृहेषु च जायादियुक्तेषु न प्रीतियुक्ताः । रातिर्मित्रं धनं वा, लोके यावदर्थाश्च यावदर्थमेवार्थो येषां मध्य दल पी समासः । देहनिर्व्वाहाधिक-स्पृहाशून्या इत्यर्थः । यद्वा, ननु प्रीत्यभावाद्देहादीनामुपेक्षापत्त्या देहनिर्व्वाहः कथमस्तु ? तत्राह- लोके यावानर्थोऽस्ति, स एवार्थो येषाम्, लोकाः प्रारब्धवशेन स्वयमेव स्वधनादिना तद्देहपोषणादिकं कुर्य्युरेवेति भावः । पूर्व्वमासक्ति-रहिततोक्ता, अनासक्तौ च कथञ्चित् कदाचित् कुत्रापि प्रीतिरपि घटेत, किन्तु आसक्त्यभावान्निर्मूला विनश्वरा च । तत्र च सर्व्वथा सर्व्वदा सर्व्वत्र प्रीतिराहित्यमेवोक्तम्, अतोऽस्य लक्षणस्य पूर्व्वतोऽपि श्रेष्ठ्यं द्रष्टव्यम् । एवमग्रेऽपि । ६९।।

न विद्यतेऽन्यत् किञ्चित् फलानुसन्धानादिकं यस्मिन् तेन विशुद्धेन भावेनेत्यर्थः । भावेन प्रेम्णा, अतएव दृढ़ां परमनिष्ठां प्राप्तां भक्तिं श्रवणादिरूपां विविधां केवलनामसंकीर्त्तनात्मिकां वा ये कुर्व्वन्ति, ते साधव इत्युत्तरश्लोकेनान्वयः । अतएव मत्कृते मम कर्मणि निमित्ते ; यद्वा, मत्प्राप्त्यर्थं, यद्वा, मत्प्रीत्येत्यर्थः ; त्यक्तानि कर्म्माणि नित्यनैमित्तिकादीनि सर्व्वाण्येव यैः ; तथा त्यक्ताः स्वजना ज्ञातयो बान्धवाश्च सम्बन्धिनो यैरते । एतच्च प्रेमनिष्ठताया बाह्यलक्षणं ज्ञेयम् । पूर्व्वमासक्तित्याग एव, ततश्च प्रीत्यभाव एवोक्तः । अत्र सर्व्वथा समूलत्याग एव दर्शितः । एवं पूर्व्वपूर्व्वतोऽस्य श्रेष्ठ्यमायातम् । इत्थं व्रतपरतामारभ्य प्रेमपरतापर्य्यन्त-मुत्तरोत्तरं, तथा तत्तदवान्तरे च श्रेष्ठ्यमूह्यम् । अतएव सर्वतः श्रेष्ठतमत्वादस्याः सर्व्वान्ते लिखनम् । एवं श्रीहविर्योगेश्वरेणापि 'विसृजति' इत्येतदुक्तमिति दिक् ।।७३।।

में जिनका अभिलाष नहीं है, एवं जो सब मानव, देहयात्रा निर्वाहार्थ विपुल धन की आकाङ्क्षा नहीं करते हैं, वे सब ही महापुरुष हैं ।।६९।।

प्रेम के तारतम्यानुसार त्रिविध प्रेमैकपरता हैं—उत्तमा, मध्यमा एवं कनिष्ठा ।।७०।।

तत्रोत्तमा

एकादश स्कन्धस्थ हविर्योगेश्वर के उत्तर में सुव्यक्त है—जो सर्व प्राणीवर्ग में स्वीय भगवद्भाव, एवं भगवान् में सर्वभूत को निरीक्षण करते हैं, वे ही भागवत श्रेष्ठ हैं ।।७१।।

जो मानव सर्व प्राणीवृन्द में स्वीय अभीष्टदेव का भाव अर्थात् सत्ता को अवलोकन करते हैं, एवं भगवान् में भूतगण की अवस्थिति की चिन्ता करते हैं, वे ही साधुवृन्द सम्मत भागवत हैं ।।७२।।

श्रीकपिल-देवहूति-संवाद में लिखित है—जो मानव, प्रेमनिष्ठाहेतु मत्प्रति अनन्यभाव से दृढ़ भक्तिमान् होते हैं, उन सबको मन्निमित्त कर्मत्याग एवं स्वजन बन्धुबान्धवादि को परित्याग करना यदि पड़ता है, वह भी करते हैं ।।७३।।

श्रीहविर्योगेश्वरोत्तरे च (श्रीभा ११।२।५५)

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा,-द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरसनया धृताङ्घ्रि पद्मः, स भवति भागवतप्रधान उक्तः ।।७४।।

तत्र मध्यमा

हविर्योगेश्वरोक्तावेव (श्रीभा ११।२।४६)—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च । प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ।।७५।।

तत्र कनिष्ठा

तत्रैव (श्रीभा ११।२।४७)—

अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते । न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ।।७६।।
श्रद्धया पूजनं प्रेमबोधकं भक्त इत्यपि । लक्षणानि च यान्यग्रे भक्तेर्लेख्यानि तान्यपि ।।७७।।
वन्दनादीनि विद्यन्ते येषु भागवता हि ते । एतानि लक्षणानीत्थं गौणमुख्यादिभेदतः ।।७८।।
ऊह्यानि लक्षणान्येवं विवेच्यानि पराण्यपि ।।७९।।

'सर्व्वभूतेषु यः पश्येत्' इत्यादिना बहुधा भागवतस्य लक्षणमुक्त्वा इदानीमुक्त-समस्तलक्षणसारमाह— विसृजतीति; हरिरेव साक्षात् स्वयं यस्य हृदयं न विसृजति न मुञ्चति; कथम्भूतः ? अवशेनाप्यभिहित-मात्रेऽपि अघौघं पापसमूहं संसारवेगं वा नाशयति यः सः । तत् किमिति न विसृजति ? यतः प्रणयरसनया प्रेमश्रृङ्खलया धृतं हृदये बद्धमङ्घ्रिपद्मं यस्य सः; स एव भागवतप्रधान उक्तो भवति तत्त्वविद्भिरिति । प्रधान-शब्दः 'कोषे अस्त्रियाम्' इत्युक्तः; यद्वा, वैष्णवाग्र्य इति पूर्व्वेण सम्बन्धः; प्रकरणबलादध्याहार्य्यमेव वा । भागवतो भगवद्भक्तो भागवताख्यशास्त्रं वा प्रधानं यस्य स इति वाह्यलक्षणं तस्येति ।।७४।।

ननु 'सर्व्वभूतेषु यः पश्येत्' इत्यादौ बहुविधोऽपि भगवद्भक्तः, एष भागवतोत्तमः' इत्यादिना श्रीभागवते सामान्येनैव सर्व्वं उक्तः, तथात्रापि लिखितः, किन्तु भगवद्व्रतकर्म्मादिपरताया ज्ञानादिपरतायाश्च तथा कथादिपरताया एकान्तितायाश्च पृथक् लिखनात् तारतम्यप्रतीतेर्भेदो भासत एव, स च व्यक्तं न लिखितः;

श्रीहविर्योगेश्वर के उत्तर में प्रकाशित है—अवशभाव से भी जिनका नामोच्चारण करने से समस्त पातक विनष्ट होते हैं, वह भगवान् श्रीहरि, प्रेमरज्जु द्वारा बद्धपादपद्म होकर जिनके हृदय को त्याग नहीं करते हैं, वे ही 'भागवतश्रेष्ठ' शब्द से अभिहित्त हैं ।।७४।।

तत्र मध्यमा

श्रीहविर्योगेश्वर की उक्ति यह है—जो भगवान् में प्रेम, भगवद्भक्त में मित्रता, अज्ञजन के प्रति कृपा, एवं भगवद्विमुख के प्रति उपेक्षा करते हैं, भेद ज्ञान निबन्धन वे मध्यम भक्त हैं ।।७५।।

तत्र कनिष्ठा

उक्त हविर्योगेश्वर उपाख्यान में वर्णित है—जो मानव, श्रद्धापूर्वक श्रीहरि की अर्च्चना करते हैं, किन्तु हरिभक्त अथवा अपर की पूजा में पराङ्मुख हैं, वे प्राकृतभक्त हैं, अर्थात् प्रथमारम्भ भक्त हैं, पर्य्याय क्रम से भक्तिशास्त्रोपदेश प्राप्तकर उत्तमाधिकारी हो सकते हैं ।।७६।।

श्रद्धापूर्वक भक्त व्यक्ति का भगवदर्च्चन ही प्रेमबोधक है । अनन्तर वन्दनादि जो सब भक्तिलक्षण विवृत होंगे, वे सब लक्षणान्वित होने से ही भगवद्भक्त आख्या होगी ।।७७।।

इस प्रकार जो सब व्रतपरावधि- महाभागवत लक्षण यावत् प्रेम भक्तवद् भक्त लक्षण वर्णित हुये हैं, तन्मध्य में किञ्चिदंश गौण एवं किञ्चिदंश को मुख्य रूप से जानना चाहिये ।।७८-७९।।

ईदृग्लक्षणवन्तः स्युर्दुर्ल्लभा बहवो जनाः । दिव्या हि मणयो व्यक्तं न वर्त्तेरन्नितस्ततः ॥८०॥

अतएवोक्तं मोक्षधर्म्मे नारदीये—

जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः । सात्त्विको स तु विज्ञयो भवेन्मोक्षार्थनिश्चयः ॥८१॥ इति

एवं संक्षिप्य लिखिताद्वैष्णवानान्तु लक्षणात् ।
माहात्म्यमपि विज्ञेयं लिख्यतेऽन्यच्च तत् कियत् ।।८२॥

अथ भगवद्भक्तानां माहात्म्यम्

सौपर्णे श्रीशक्रोक्तौ—

कलौ भागवतं नाम यस्य पुंसः प्रजायते । जननी पुत्त्रिणी तेन पितॄणान्तु धुरन्धरः ।८३॥

कथं विवेचनीय इत्यपेक्षायां लिखति—एतानीति । इत्थमनेन लिखितप्रकारेण, लिखितानि एतानि व्रतपरतादीनि महाभागवतलक्षणान्तानि भगवद्भक्तलक्षणानि गौणमुख्यादिभेदेन कानि च गौणानि बहिष्ठानि, कानि च मुख्यानि; आदि-शब्दात् तत्रैव कानिचिद्बहिरङ्गाणि कानिचिच्चान्तरङ्गाणीत्यादिभेदेन ऊह्यानि विविच्य बोद्धव्यानि । तत्र व्रतकर्म्मादिपरता गौणलक्षणं, ज्ञानादिपरता तत्तदपेक्षया मुख्यलक्षणमपि भक्तेर्वहिरङ्गमेव ; अतएव सा तस्य साक्षाद्भगवद्भक्तलक्षणासम्पत्तेस्तत्र तत्र भक्तिहेतुरिति लिखितम् । श्रवणादीनि च मुख्यलक्षणान्यन्तरङ्गाण्येव, एकान्तिता च परममुख्या अत्यन्तान्तरङ्गा च, तत्र तत्रैवान्तरगौणमुख्यादीन्यप्यूह्यानि । एवं गौणमुख्यादिभेदेन अपराणि अत्र लिखितानि वन्दनादीन्यपि विवेचनीयानि, विविच्य ज्ञेयानि, तथा तत्तल्लक्षणानां तारतम्यादिना भगवद्भक्तानामपि तारतम्यं विवेचनीयमिति दिक् ॥ ७८-७९॥

ननु कर्म्मज्ञानादिपराः सर्व्वत्र बहवो दृश्यन्ते, लिखितलक्षणाश्च महाभागवता एकान्तिनो न दृश्यन्ते, सत्यं ते निगूढ़ा एवेति लिखति—ईदृगिति । तथा च हरिभक्तिसुधोदये—'सुदुर्ल्लभा भागवता हि लोके' इति । दिव्या अमूल्याश्चिन्तामण्यादयः, इतस्ततः सर्व्वत्रेत्यर्थः; व्यक्तमिति सन्त्येव, अन्यथा लोकरक्षानुपपत्तेः। किन्तु, अलक्षितं क्वचित् कश्चित् वर्त्तत इति भावः ॥८०॥

स एव मोक्षार्थे मोक्षस्य अर्थः फलं भक्तिस्तस्मिन्निश्चितः कृतनिश्चयो भवति; एवं परमदुर्ल्लभत्वमेव सिद्धम् ॥८१॥

'सुप्रियः श्रीपतिर्येषाम्' इत्यादिरूपात्, तथा 'सदाचाररताः' इत्यादिरूपात्, 'तितिक्षवः' इत्यादिरूपाच्च, 'महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः' (श्रीभा ५।५।२) इत्यादिरूपादपि लक्षणात् विज्ञेयं स्यादेव; तत् माहात्म्य अन्यच्च कियत् संक्षिप्तं लिख्यते ॥८२॥

भागवतं नाम—वैष्णव इति नाम; यद्वा, श्रीकृष्णदासेत्यादिसंज्ञापि; तथापि दीक्षयैव तादृशनामोत्पत्त्या भगवद्भक्तत्वं सिद्धमेव; यद्वा, नाममात्रेण तादृश-माहात्म्यं, किं पुनराचारादिनेत्यर्थः । एवमन्यदप्यूह्यम् ॥८३

उक्त लक्षणाक्रान्त बहु व्यक्ति दुर्ल्लभ होते हैं, अर्थात् अति स्वल्प संख्यक होते हैं । कारण, चिन्तामणि प्रभृति अमूल्य रत्नसमूह सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते हैं ॥८०॥

अतएव नारदीय पुराण के मोक्ष धर्म प्रसङ्ग में उक्त है—भगवान् मधुसूदन, जिस प्रादुर्भूत पुरुष के प्रति दृष्टिनिःक्षेप करते हैं, वह सात्त्विक शब्द से कथित होता है, वही मनुष्य, मुक्ति फल भक्ति हेतु दृढ़ निश्चय का होता है ॥८१॥

इस प्रकार संक्षेप से वर्णित लक्षण द्वारा वैष्णव माहात्म्य को भी जानना होगा। अधुना संक्षेप से अपर कतिपय वैष्णव माहात्म्य कहा जाता है ॥८२॥

अथ भगवद्भक्तानां माहात्म्यम्

गरुड़पुराण में इन्द्र की उक्ति यह है—कलिकाल में भगवद्भक्त नाम से प्रसिद्ध होने से, उक्त पुरुष के

कलौ भागवतं नाम दुर्लभं नैव लभ्यते। ब्रह्मरुद्रपदोत्कृष्टं गुरुणा कथितं मम ॥८४॥

यस्य भागवतं चिह्नं दृश्यते तु हरिर्मुने। गीयते च कलौ देवा ज्ञेयास्ते नास्ति संशयः ॥८५॥

श्रीमार्कण्डेयोक्तौ—

समीपे तिष्ठते यस्य ह्यन्तकालेऽपि वैष्णवः। गच्छते परमं स्थानं यद्यपि ब्रह्महा भवेत् ॥८६॥

नारदीये श्रीवामदेव-रुक्माङ्गद संवादे—

श्वपचोऽपि महीपाल विष्णोर्भक्तो द्विजाधिकः। विष्णुभक्तिविहीनो यो यतिश्च श्वपचाधिकः ॥८७

स्कान्दे रेवाखण्डे श्रीब्रह्मोक्तौ—

इन्द्रो महेश्वरो ब्रह्मा परं ब्रह्म तदेव हि। श्वपचोऽपि भवत्येव यदा तुष्टोऽसि केशव ॥८८॥

श्वपचादपि कष्टत्वं ब्रह्मेशानादयः सुराः। तदैवाऽच्युत यान्त्येते यदैव त्वं पराङ्मुखः ॥८९॥

स-कर्त्ता सर्व्वधर्म्माणां भक्तो यस्तव केशव। स कर्त्ता सर्व्वपापानां यो न भक्तस्तवाच्युत ॥९०

गुरुणा श्रीवृहस्पतिना ॥८४॥

चिह्नं तप्तमुद्रादिलक्षणं, हरिर्गीयते च यैः ते कलौ देवा ज्ञेयाः। कलावित्यस्य पूर्व्वेण वान्वयः ॥८५॥

गच्छते गच्छति ॥८६॥

द्विजात् विप्रादप्यधिक उत्तमः, श्वपचादप्यधिकः परमनिकृष्ट इत्यर्थः। अधम इत्येव वा पाठः ॥८७॥

यदा तुष्टोऽसि, तदैव श्वपचोऽपि इन्द्रादिर्भवति। तत्र परब्रह्मेति— मुक्तस्तन्मयो वेत्यर्थः ॥८८॥

न च्युतः, कथञ्चिदपि न भ्रष्टो भवति भक्तो यस्मादिति तत्सम्बोधनम्—हे अच्युतेति। तथा चोक्तम्—'न च्यवन्तेऽपि यद्भक्ता महत्यां प्रलयापदि। अतोऽच्युतो ऽखिले लोके स एकः' इत्यादि; एतच्चाग्रे लेख्यमेव ॥९०

द्वारा जननी पुत्रवती होती है, एवं वही पुरुष पितृ पुरुषों का भारवाही होता है, अर्थात् उद्धारकर्त्ता होता है ॥८३॥

कलियुग में भगवद्भक्त नाम दुष्प्राप्य है, कदाच प्राप्य नहीं है। भागवत नाम ब्रह्म रुद्रपद से भी उत्तम है, गुरु बृहस्पति ने मेरे समीप ऐसा कहा है ॥८४॥

हे मुने! कलिकाल में, जो मानव, तप्तमुद्रादि चिह्न धारण करते हैं, जिनके मुख से श्रीहरिनाम कीर्त्तित होता है, वे सब निःसन्देह देव सदृश हैं ॥८५॥

श्रीमार्कण्डेय की उक्ति है—मृत्युकाल में समीप में वैष्णवजन अवस्थित होने पर ब्रह्मघाती पापी भी परमपद प्राप्त करने में समर्थ होता है ॥८६॥

नारदीय पुराण के वामदेव-रुक्माङ्गद-संवाद में वर्णित है—हे राजन्! वैष्णव होने से श्वपच व्यक्ति भी द्विज से उत्तम होता है एवं विष्णुभक्ति विवर्जित होने से यतिव्यक्ति भी श्वपच से हीन गण्य होता है।

स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड में श्रीब्रह्मोक्ति में प्रकाश है—हे केशव! तुम्हारी प्रसन्नता होने पर श्वपच भी इन्द्र, शिव, ब्रह्मा एवं परमब्रह्म स्वरूप होता है और तुम्हारी विमुखता होने पर महादेव, विरिञ्चि प्रभृति देववृन्द भी श्वपचाधम होते हैं ॥८७-८९॥

हे अच्युत! त्वद् भक्त ही सर्वधर्मकर्त्ता एवं तुम्हारे प्रति भक्तिहीन होने पर ही उनको समस्त पापों से पापी जानना चाहिये ॥९०॥

धर्म्मो भवत्यधर्म्मोऽपि कृतो भक्तैस्तवाच्युत ।
पापं भवति धर्म्मोऽपि तवाभक्तैः कृतो हरे ॥९१॥

निःशेषधर्म्मकर्त्ता वाऽप्यभक्तो नरके हरे । सदा तिष्ठति भक्तस्ते ब्रह्महापि विशुध्यति ॥९२॥

निश्चला त्वयि भक्तिर्या सैव मुक्तिर्जनार्द्दन । मुक्ता एव हि भक्तास्ते तव विष्णो यतो हरे ॥९३

तत्रैव दुर्व्वासोनारद-संवादे—

नूनं भागवता लोके लोकरक्षाविशारदाः । व्रजन्ति विष्णुनादिष्टा हृदिस्थेन महामुने ॥९४॥

भगवानेव सर्व्वत्र भूतानां कृपया हरिः । रक्षणाय चरँल्लोकान् भक्तरूपेण नारद ॥९५॥

तत्रैव श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

यस्तु विष्णुपरो नित्यं दृढ़भक्तिर्जितेन्द्रियः । स्वगृहेऽपि वसन् याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९६॥

अश्वमेधसहस्राणां सहस्रं य करोति वै । नासौ तत्फलमाप्नोति तद्भक्तैर्यदवाप्यते ॥९७॥

तव भक्तैः कृतः अधर्म्मः कदाचित्तीर्थादावधिकप्रतिग्रहादिना पापमपि धर्म्म एव भवति, भक्त्या त्वदर्थमेव कृतत्वात् । तवाभक्तैः कृतो धर्म्मो योगादिरपि पापमेव भवति, त्वदनादरात; तदुक्तम्—'अरिर्मित्रं विषं पथ्यमधर्मो धर्म्मतां व्रजेत् । प्रसन्ने पुण्डरीकाक्षे विपरीते विपर्य्ययः ॥' इति ॥९१॥

नरके सदा तिष्ठति, अभक्त्या भगवदनादरेण नास्तिकत्वापत्तेः; तथा चोक्तमेकादशस्कन्धे (५।३)—'य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् । न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥' इति ॥९२॥

देहान्ते विमुच्यत इति किं वक्तव्यं, त्वयि भक्तिनिष्ठया तस्मिन्नेव देहे मुक्त एवासावित्याशयेनाह—निश्चलेति । जनार्द्दन हे जन्मलक्षणसंसारनाशक ! विष्णो हे अपरिच्छिन्न ! हरे हे संसार दुःखहरेति सम्बोधनत्रयेण तव भक्तेर्भक्तानाञ्च तादृशत्वं युक्तमेवेति द्योत्यते ॥९३॥

व्रजन्तीत्यादौ गच्छन्ति भ्रमन्तीति वा ॥९४॥

नित्यं विष्णुपरत्वे हेतुः—दृढ़ा निश्चला भक्तिर्यस्येति, अतएव जितेन्द्रियः । येषां वैष्णवानाम्, अतएव महात्मनां स्मरणमात्रेण ॥९६-९९॥

हे अच्युत ! हे हरे ! त्वद्भक्तगणानुष्ठित अधर्म भी धर्म एवं तुम्हारे अभक्तगण आचरित धर्म भी अधर्म में गणनीय है ॥९१॥

हे हरे ! तुम्हारे प्रति अभक्तिमान् पुरुष नरक में निवास करता है, और तुम्हारे प्रति भक्तिमान् होने से ब्रह्मघाती भी पवित्र होता है ॥९२॥

हे जनार्दन ! हे विष्णो ! हे हरे ! त्वत्प्रति जो अचला भक्ति है, वह ही मुक्ति शब्द से कीर्त्तित है, अतएव त्वद्भक्तगण ही मुक्त हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥९३॥

उक्त पुराण के दुर्वासा-नारद-संवाद में वर्णित है—हे महामुने ! लोक रक्षा विशारद भगवद्भक्तगण हृदयाधिष्ठित श्रीहरि की आज्ञानुसार संसार में विचरण करते हैं ॥९४॥

हे नारद ! भूतगण की रक्षा हेतु कृपा परवश होकर भगवान् जनार्दन ही भक्तरूप में निखिल लोक में परिभ्रमण करते हैं ॥९५॥

उक्त पुराण के श्रीब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है—नित्य दृढ़ा भक्तियुक्त, हरिपरायण, जितेन्द्रिय व्यक्ति निज गृह में अवस्थित होकर भी विष्णुधाम गमन करते हैं, दशलक्ष अश्वमेधयज्ञकारी व्यक्ति भी हरिभक्तगण प्राप्य फल प्राप्त करने में असमर्थ हैं ॥९६-९७॥

तत्रैवामृतसारोद्धारे श्रीयम-तद्दूतसंवादे—

सर्व्वत्र वैष्णवाः पूज्याः स्वर्गे मर्त्ये रसातले । देवतानां मनुष्याणां तथैवोरगरक्षसाम् ॥९८॥

येषां स्मरणमात्रेण पाप-लक्षशतानि च । दह्यन्ते नात्र सन्देहो वैष्णवानां महात्मनाम् ॥९९॥

येषां पादरजेनैव प्राप्यते जाह्नवीजलम् । नार्म्मदं यामुनं चैव किं पुनः पादयोर्जलम् ॥१००॥

येषां वाक्यजलौघेन विना गङ्गाजलैरपि । विना तीर्थसहस्रेण स्नातो भवति मानवः ॥१०१

तत्रैव चातुर्म्मास्यमाहात्म्ये—

तावद्भ्रमन्ति संसारे पितरः पिण्डतत्पराः । यावत् कुले भक्तियुक्तः सुतो नैव प्रजायते ॥१०२

स एव ज्ञानवाँल्लोके योगिनां प्रथमो हि सः । महाक्रतूनामाहर्त्ता हरिभक्तियुतो हि यः ॥१०३॥

काशीखण्डे ध्रुवचरिते —

न च्यवन्ते हि यद्भक्त्या महत्यां प्रलयापदि ।
अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः सर्व्वगोऽव्ययः ॥१०४॥
न तस्माद्भगवद्भक्ताद्भेतव्यं केनचित् क्वचित् ।
नियतं विष्णुभक्ता येन ते स्युः परतापिनः ॥१०५॥

तत्रैवाग्रे—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः ।
विष्णुभक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्व्वोत्तमोत्तमः ॥१०६॥

पादस्य रजेन रजसैव, नार्म्मदं यामुनञ्च जलं प्राप्यते। किं पुनस्तेषां पादयोर्ज्जलं, तन्महिमा किं पुनर्वक्तव्य इत्यर्थः। अस्य पानसम्भवेन रजसः सकाशात् माहात्म्यापेक्षया किं पुनरिति न्यायोक्तिः ॥१००॥

वाक्यमुपदेशरूपं भगवत्कथाकीर्त्तनादिरूपं वा, तदेव जलौघः पयःपूरः, तेनैव ॥१०१॥

प्रलयापदि अपि ॥१०४॥

उस पुराण के अमृतसारोद्धारस्थ श्री यमदूत-संवाद में वर्णित है—वैष्णवगण, स्वर्ग, मर्त्य, पाताल, सर्वत्र ही देवता, मनुष्य, पन्नग एवं राक्षसकुल कर्त्तृक पूजनीय हैं। वैष्णव महात्मावृन्द का स्मरण से ही निःसन्देह शतलक्ष पाप विनष्ट होते हैं ॥९८-९९॥

जिनकी चरणधूलि से जाह्नवी, नर्मदा एवं यमुना जल प्राप्त होता है, जिनके उपदेश से किंवा भागवत् सङ्कीर्त्तनरूप सलिल द्वारा मानवगण असंख्य तीर्थ एवं गङ्गोदक व्यतीत भी स्नान होते हैं, उनके चरणोदक का माहात्म्य और क्या वर्णन करूँ ? ॥१००-१०१॥

उक्त पुराण के चातुर्मास्य माहात्म्य में वर्णित है— यावत्काल वंश में भक्तिमान् पुत्र उत्पन्न नहीं होता है, तावत्काल ही पितृकुल पिण्डलुब्ध होकर संसार में भ्रमण करते हैं। संसार में हरिभक्ति परायण पुरुष ही ज्ञानी, योगीश्रेष्ठ एवं सर्वयज्ञ आहर्त्ता नाम से अभिहित है ॥१०२-१०३॥

काशीखण्ड के ध्रुवचरित में उक्त है— महाप्रलय रूप आपद में भी हरिभक्तिगण विच्युत नहीं होते हैं, तज्जन्य ही अखिल संसार में अच्युत, सर्वगामी एवं अव्यय शब्द से कीर्तित होते हैं। सुतरां हरिभक्त से किसी प्रकार से भय की आशङ्का नहीं है। विष्णुभक्तगण कदाच अन्य को ताप प्रदान नहीं करते हैं ॥१०४-१०५॥

उक्त पुराण के अग्रिम भाग में लिखित है—विप्र, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अपर जाति क्यों न हो,

शङ्खचक्राङ्किततनुः शिरसा मञ्जरीधरः। गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो दृष्टश्चेत्तदघं कुतः ॥१०७॥

महाभारते राजधर्म्मे—

ईश्वरं सर्व्वभूतानां जगतः प्रभवाप्ययम्। भक्ता नारायणं देवं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१०८॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

शयनादुत्थितो यस्तु कीर्त्तयेन्मधुसूदनम्। कीर्त्तनात्तस्य पापानि नाशमायान्त्यशेषतः ॥१०९॥

तत्रैव—

यस्याप्यनन्ते जगतामधीशे, भक्तिः परा यादवदेवदेवे।
तस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्, पात्रं त्रिलोके पुरुषप्रवीर ॥११०॥

द्वारका-माहात्म्ये श्रीप्रह्लादबलि-संवादे —

नित्यं ये प्रातरुत्थाय वैष्णवानान्तु कीर्त्तनम्।
कुर्व्वन्ति ते भागवताः कृष्णतुल्याः कलौ बले ॥१११॥

हरिभक्तिसुधोदये—

स्वदर्शन-स्पर्शनपूजनैः कृती, तमांसि विष्णुप्रतिमेव वैष्णवः।
धुन्वन् वसत्यत्र जनस्य यन्न तत्, स्वार्थं परं लोकहिताय दीपवत् ॥११२॥

इतिहाससमुच्चये श्रीलोमशवाक्ये—

ये भजन्ति जगद्योनिं वासुदेवं सनातनम्। न तेभ्यो विद्यते तीर्थमधिकं राजसत्तम ॥११३॥

तुलसीमञ्जरीधरः, शिरसेत्यत्र तुलसीति वा पाठः; तत्तदा ॥१०७॥

ये भक्ता अभजन्, दुर्गाणि दुस्तरविविधदुःखानि ॥१०८॥

विष्णुप्रतिमेव स्वदर्शनादिभिर्जनस्य सर्व्वलोकस्य तमांसि पापानि अज्ञानानि वा धुन्वन् नाशयन्; अत्र लोके वैष्णवो यद्वसति, तत्स्वार्थं न, किन्तु परं केवलं लोकहितायैव। अत्र दृष्टान्तः—यथा दीप इति ॥१११॥

ततोऽधिकं श्रेष्ठम् ॥११३॥

हरिभक्त होने से वह सर्वापेक्षा श्रेष्ठ परिगणित होता है। शङ्ख चक्र से चिह्नित गात्र, मस्तक-तुलसीमञ्जरी विभूषित, गोपीचन्दन लिप्ताङ्ग महात्मा को दर्शन करने से पातक की आशङ्का कहाँ होती है ?१०६-१०७॥

महाभारत के राजधर्म में लिखित है, सर्वभूतेश्वर, जगदुत्पत्ति लयकारी श्रीहरि के भक्तवृन्द, विविध दुष्पार दुःख से उत्तीर्ण होते हैं ॥१०८॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—निद्रा से उत्थित होकर मधुसूदन नाम कीर्त्तन करने से पातकराशि निःशेष से विदूरित होती है ॥१०९॥

उक्त ग्रन्थ में और भी वर्णित है—हे पुरुषप्रवर ! जो अनन्त, जगदीश्वर, यादव, देवदेव श्रीहरि के प्रति भक्तिपरायण होते हैं, त्रिभुवन में तदपेक्षा अन्य अपर उत्कृष्ट पात्र नहीं हैं ॥११०॥

द्वारका माहात्म्य के प्रह्लाद-बलि-संवाद में कथित है—हे बले ! जो मानव, प्रत्यह प्रातःकाल में उठकर वैष्णव नामकीर्त्तन करते हैं, कलियुग में वे सब ही भागवत एवं कृष्णतुल्य हैं ॥१११॥

हरिभक्ति सुधोदय में उक्त है—पुण्यचरित वैष्णव, श्रीहरिप्रतिमा तुल्य, निज दर्शन, स्पर्शन एवं अर्चन द्वारा लोकों का अज्ञान विदूरित करने के निमित्त ही दीपवत् परहितार्थ संसार में निवास करते हैं, स्वयं के निमित्त नहीं ॥११२॥

इतिहाससमुच्चय में श्रीलोमश वाक्य इस प्रकार है—हे राजप्रवर ! जो मानव, जगत् कारण सनातन

यत्र भागवताः स्नानं कुर्व्वन्ति विमलाश्रयाः। तत्तीर्थमधिकं विद्धि सर्व्वपापविशोधनम् ॥११४

यत्र रागादिरहिता वासुदेवपरायणाः। तत्र सन्निहितो विष्णुर्नृपते नात्र संशयः ॥११५॥

न गन्धैर्न तथा तोयैर्न पुष्पैश्च मनोहरैः। सान्निध्यं कुरुते देवो यत्र सन्ति न वैष्णवाः ॥११६।

बलिभिश्चोपवासैश्च नृत्यगीतादिभिस्तथा। नित्यमाराध्यमानोऽपि तत्र विष्णुर्न तृप्यति ॥११७

तस्मादेते महाभागा वैष्णवा वीतकल्मषाः। पुनन्ति सकलाँल्लोकांस्तत्तीर्थमधिकं ततः ॥११८॥

शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं श्वपचं तथा। वीक्षते जातिसामान्यात् स याति नरकं ध्रुवम् ॥११९

तस्माद्विष्णुप्रसादाय वैष्णवान् परितोषयेत्। प्रसादसुमुखो विष्णुस्तेनैव स्यान्न संशयः ॥१२०

तत्रैव श्रीनारदपुण्डरीक-संवादे—

ये नृशंसा दुरात्मानः पापाचाररताः सदा। तेऽपि यान्ति परं धाम नारायणपराश्रयाः ॥१२१॥

लिप्यन्ते न च पापेन वैष्णवा विष्णुतत्पराः। पुनन्ति सकलाँल्लोकान् सहस्रांशुरिवोदितः ॥१२२

जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्याद्बुद्धिरीदृशी। दासोऽहं वासुदेवस्य सर्व्वान् लोकान् समुद्धरेत् ॥१२३

स याति विष्णुसालोक्यं पुरुषो नात्र संशयः। किं पुनस्तद्गतप्राणाः पुरुषाः संयतेन्द्रियाः ॥१२४

अधिकं सर्व्वतः श्रेष्ठं विद्धि; कुतः? सर्व्वेषामेव पापानां विशेषेण वासनोन्मूलनेन शोधनम् ॥११४॥

बलिभिः उपहारैः, यत्र वैष्णवा न सन्ति, तत्र न तृप्यति, न तुष्यति। ११७॥

तस्मादेत एव लोकान् पुनन्ति, ततस्तस्माद्धेतोः। तदित्यव्ययं त इत्यर्थः; यद्वा, तीर्थविशेषणत्वान्नपुंसकत्वम्, वैष्णवा एव परमं तीर्थमित्यर्थः ॥११८॥

जातिसामान्यात् नीचजातिरयमिति; यद्वा, यथान्यः शूद्रस्तथायमपीत्यादिप्रकारेण समानजातितया यो वीक्षते ॥११९॥ तेन वैष्णवपरितोषणेनैव ॥१२०॥

नारायण एव परः परम आश्रयो येषां ते; यद्वा, नारायणपरा वैष्णवास्तदाश्रया अपि सन्तः ॥१२१॥

वासुदेव की आराधना करते हैं, वे सब श्रेष्ठ तीर्थस्वरूप हैं, उनसे अधिक श्रेष्ठ तीर्थ और दूसरा विद्यमान नहीं हैं ॥११३॥

विमलमति भक्तगण, जहाँ स्नान करते हैं, वह स्थान, सर्वपाप विनाशक तीर्थ श्रेष्ठ है। हे नृप! रागादि शून्य हरिपरायण वैष्णवगण कर्त्तृक अधिकृत स्थान में श्रीहरि सदा विराजमान हैं, इसमें सन्देह नहीं है। जहाँ वैष्णव अधिष्ठित नहीं हैं, वहाँ वारि एवं मनोहर पुष्प द्वारा पूजित होने से भी श्रीहरि निवास नहीं करते हैं। वैष्णवगण कर्त्तृक अनधिष्ठित स्थान में उपहार, अनशन एवं नृत्य गीतादि द्वारा आराध्यमान होने से भी श्रीहरि सन्तुष्ट नहीं होते हैं ॥११४-११७॥

तज्जन्य सकल निष्पाप महाभाग वैष्णववृन्द निखिल लोक को पवित्र करते हैं, अतएव वे सब तीर्थ से भी अधिक पवित्र हैं ॥११८॥

शूद्र, चण्डाल अथवा श्वपच होने से भी वैष्णव को जो मानव, सामान्य जाति ज्ञान से हीन बुद्धि से दर्शन करते हैं, वे सब निःसन्देह से नरक गमन करते हैं ॥११९॥

तज्जन्य श्रीहरि प्रीति विधान निमित्त वैष्णवगण को सन्तुष्ट करना चाहिये, ऐसा होने से श्रीहरि प्रसन्न होंगे, इसमें सन्देह नहीं है ॥१२०॥

उक्त ग्रन्थ के श्रीनारद-पुण्डरीक-संवाद में उक्त है—नारायण परायणगण का आश्रय ग्रहण करने से क्रूर, दुरात्मा, एवं सदा पापाचारी व्यक्तिगण कदाच पापलिप्त नहीं होते हैं, वे सब सूर्य्य सदृश उदित

किञ्च—

स्मृतः सम्भाषितो वापि पूजितो वा द्विजोत्तमाः ।
पुनाति भगवद्भक्तश्चाण्डालोऽपि यदृच्छया ॥१२५॥

श्रीव्यासवाक्ये—

जन्मान्तरसहस्रेषु विष्णुभक्तो न लिप्यते । यस्य सन्दर्शनादेव भस्मीभवति पातकम् ॥१२६॥

इतिहाससमुच्चये श्रीभगवद्वाक्ये—

न मे प्रियश्चतुर्व्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः ।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥१२७॥

तत्रैव ब्रह्मवाक्ये—

सभर्त्तृका वा विधवा विष्णुभक्तिं करोति या । समुद्धरति चात्मानं कुलमेकोत्तरं शतम् ॥१२८

द्वारकामाहात्म्ये प्रह्लादबलि-संवादे—

सङ्कीर्णयोनयः पूता ये भक्ता मधुसूदने । म्लेच्छतुल्याः कुलीनास्ते ये न भक्ता जनार्द्दने ॥१२९॥

आदिपुराणे श्रीकृष्णार्ज्जुन-संवादे—

वैष्णवान् भज कौन्तेय मा भजस्वान्यदेवताः । पुनन्ति वैष्णवाः सर्व्वे सर्व्वदेवमिदं जगत् ।
मद्भक्तो दुर्ल्लभो यस्य स एव मम दुर्ल्लभः ॥१३०॥

यदृच्छया यथाकथञ्चिदित्यर्थः; अस्य स्मृतः इत्यादिनान्वयः ॥१२५॥

न लिप्यते प्रमादादिना कथञ्चित् कृतैरपि पापैः, अन्येषामपि पातकं सर्व्वं भस्मीभवति समूलं विनश्यति ॥१२६॥

चतुर्वेदी वेदचतुष्टयाभ्यासयुक्तोऽपि विप्रो न मद्भक्तश्चेत्तर्हि न मे प्रियः; श्वपचोऽपि मद्भक्तश्चेन्मम प्रिय इत्यर्थः, तस्मै तादृश-श्वपचायैव ॥१२७॥ कुलं कुलानि च, दुर्ल्लभो वल्लभः ॥१२८-१३०॥

होकर अखिल लोक को पवित्र करते हैं। "मैं वासुदेव दास हूँ" जन्मसहस्रान्त में जिनकी इस प्रकार मति होती है, वे अखिल लोकोद्धार करते हैं एवं वे सब निश्चय ही हरि-लोक को प्राप्त करते हैं। श्रीहरिगतप्राण संयतेन्द्रिय पुरुष की कथा ही क्या है? ॥१२१-१२४॥

और भी लिखित है—हे द्विजश्रेष्ठगण ! भगवद्भक्त चण्डाल होने से भी उनका स्मरण, तत्सह सम्भाषण, उनकी पूजा करने से यदृच्छा से पवित्रता लाभ होती है ॥१२५॥

श्रीव्यास वाक्य में वर्णित है—विष्णुभक्त के दर्शनमात्र से ही पातक भस्मीभूत होता है, सहस्र जन्म के मध्य में प्रमादवशतः पापानुष्ठान कथञ्चित् होने पर भी विष्णुभक्तगण उससे लिप्त नहीं होते हैं ॥१२६॥

इतिहास समुच्चय में श्रीभगवद् वाक्य यह है—मद्भक्ति परायण न होने से चतुर्वेद अभ्यास सम्पन्न व्यक्ति भी मेरा प्रिय नहीं होता है, भक्तिमान् होने पर श्वपच भी मेरा प्रिय होता है। तद्रूप श्वपच को ही दान देना चाहिये, उनसे ग्रहण भी करना चाहिये। वह श्वपच मत्तुल्य पूजनीय है ॥१२७॥

उक्त ग्रन्थ के ब्रह्म-वाक्य यह है—क्या सधवा क्या विधवा, विष्णुभक्ति परायण होने से एकाधिक शत-कुल की रक्षा कर सकती है ॥१२८॥

द्वारका माहात्म्य के प्रह्लाद-बलि-संवाद में लिखित है—मधुसूदन के भक्त होने से नीच जाति भी परम पवित्र होती है, किन्तु हरिभक्ति विहीन होने पर कुलीन भी म्लेच्छ तुल्य होता है ॥१२९॥

आदिपुराण के श्रीकृष्णार्ज्जुन-संवाद में लिखित है—हे पार्थ ! वैष्णववृन्द की उपासना करो, अन्यान्य देवतागण की उपासना करने का प्रयोजन नहीं है। वैष्णववृन्द, निखिल सुरगण के सहित इस जगत् को

तत्परो दुर्ल्लभो नास्ति सत्यं सत्यं धनञ्जय । जगतां गुरवो भक्ता भक्तानां गुरवो वयम् ।।१३१
सर्व्वत्र गुरवो भक्ता वयञ्च गुरवो यथा । अस्माकं बान्धवा भक्ता भक्तानां बान्धवा वयम् ।
अस्माकं गुरवो भक्ता भक्तानां गुरवो वयम् । मद्भक्ता यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छामि पार्थिव ।

भक्तानामनुगच्छन्ति मुक्तयः श्रुतिभिः सह ।।१३२।।
ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः ।
मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः ।।१३३।।
ये केचित् प्राणिनो भक्ता मदर्थे त्यक्तबान्धवाः ।
तेषामहं परिक्रीतो नान्यक्रीतो धनञ्जय ।।१३४।।

एषां भक्ष्यं सुनिर्णीतं श्रूयतां निश्चितं मम । उच्छिष्टमवशिष्टञ्च भक्तानां भोजनद्वयम् ।।१३५।।
नामयुक्तजनाः केचिज्जात्यन्तरसमन्विताः । कुर्व्वन्ति मे यथा प्रीतिं न तथा वेदपारगाः ।।१३६

बृहन्नारदीये मार्कण्डेयं प्रति श्रीभगवदुक्तौ—

विष्णुभक्तकुटुम्वीति वदन्ति विबुधाः सदा । तदेव पालयिष्यामि मज्जनो नानृतं वदेत् ।।१३७।।

तेषामहं परिक्रीतस्तैः परिक्रीतः ।।१३४।।

सुनिर्णीतं निश्चितमिति—वाक्यभेदादपौनरुक्त्यम्; अवशिष्टं पुरस्तादानीतं पाकपात्रादौ स्थितम् ।।१३५

भक्त एव कुटुम्वीति, तदेव पालयिष्यामीति—यथा स्वकुटुम्वीमकृत्येनापि परिपाल्यते, तथा निजभक्तो मया परिपाल्य इत्यर्थः ।।१३७।।

पवित्र करते हैं। मेरा भक्त जिसका प्रिय है, वह व्यक्ति, मेरा भी प्रिय है। हे अर्जुन ! मैं पुनः पुनः सत्यकर कहता हूँ, उससे मेरा और कोई प्रिय नहीं है। भक्तवृन्द समस्त जगत् के गुरु हैं, मैं भक्तवृन्द का गुरु हूँ। जिस प्रकार मैं अखिल जगत् का गुरु हूँ, भक्तगण भी तद्रूप हैं। भक्तवृन्द, मेरे बान्धव हैं, और मैं भक्तों का बान्धव हूँ। भक्तगण मदीय गुरु हैं, एवं मैं भी भक्तगण का गुरु हूँ। हे धनञ्जय ! भक्तगण जिस स्थान में गमन करते हैं, मैं भी वहाँ पर गमन करता हूँ। मुक्तिगण श्रुतिगण के सहित भक्तगण के अनुसरण करती हैं ।।१३०-१३२।।

हे कौन्तेय ! जो मेरे ही भक्त हैं, उनको यथार्थ भक्त गणन करना नहीं चाहिये। मदीय भक्तगणों के भक्तों को ही मदीय सर्वोत्तम भक्त कहे गये हैं ।।१३३।।

हे धनञ्जय ! जिन्होंने मद्भक्तिमान् होकर मन्निमित्त बन्धु-बान्धव को विसर्जन किया है, मैं उन भक्तों के द्वारा क्रीत हूँ, मुझको क्रय करने में और कोई समर्थ नहीं हैं ।।१३४।।

जो कुछ भक्ष्य उक्त भक्तगण के निमित्त निर्दिष्ट हैं, अवहित चित्त से श्रवण करो। उच्छिष्ट एवं अवशिष्ट भेद से भक्तवृन्द के भोजन द्विविध हैं। निवेदित द्रव्य को उच्छिष्ट कहते हैं, एवं अग्रांश देकर अवशिष्ट पाक पात्र में जो रहता है, उसको अवशिष्ट कहते हैं। जात्यन्तर युक्त नीचजन मन्नामपरायण होने से तद् द्वारा मैं जिस प्रकार सन्तुष्ट होता हूँ, वेदविचक्षण विप्र के द्वारा भी उस प्रकार सन्तुष्ट नहीं होता हूँ।।१३५-१३६।।

वृहन्नारदीय पुराण में मार्कण्डेय के प्रति भववदुक्ति यह है—देवतागण सर्वदा इस प्रकार कहते हैं—विष्णुभक्तजन कुटुम्वी हैं, मैं उन्हीं की रक्षा करूँगा। मद्भक्तगण कभी मिथ्याभाषी नहीं होते हैं ।।१३७।।

मम जन्म कुले यस्य तत्कुलं मोक्षगामि वै। मयि तुष्टे मुनिश्रेष्ठ किमसाध्यं वदस्व मे ॥१३८॥
मयि भक्तिपरो यस्तु मद्याजी मत्कथापरः। मद्ध्यानी स्वकुलं सर्व्वं नयत्यच्युतरूपताम् ॥१३९
मदर्थं कर्म्म कुर्व्वाणो मत्प्रणामपरो नरः। मन्मनाः स्वकुलं सर्व्वं नयत्यच्युतरूपताम् ॥१४०॥
अहमेव द्विजश्रेष्ठ नित्यं प्रच्छन्नविग्रहः। भगवद्भक्तरूपेण लोकान् रक्षामि सर्व्वदा ॥१४१॥

तत्रैवादितिमाहात्म्ये श्रीसूतोक्तौ—

विप्राः शृणुध्वं माहात्म्यं हरिभक्तिरतात्मनाम्।
हरिध्यानपराणान्तु कः समर्थः प्रबाधितुम् ॥१४२॥

हरिभक्तिपरो यत्र तत्र ब्रह्मा हरिः शिवः। तत्र देवाश्च सिद्धाद्या नित्यं तिष्ठन्ति सत्तमाः ॥१४३

निमिषं निमिषार्द्धं वा यत्र तिष्ठन्ति सत्तमाः।
तत्रैव सर्व्वश्रेयांसि तत् तीर्थं तत् तपोवनम् ॥१४४॥

तत्रैवादितिं प्रति श्रीभगवदुत्तरे—

रागद्वेषविहीना ये मद्भक्ता मत्परायणाः। वदन्ति सततं ते मां गतासूया अदाम्भिकाः ॥१४५॥

यस्य कुले मज्जन्म तस्य कुलं, यस्येत्यत्र यस्मिन्निति वा पाठः ॥१३८॥

अच्युतरूपतां मत्सारूप्यमित्यर्थः; यद्वा, न च्युतं, कथञ्चित् कदाचिदपि न निजस्वभावाद्भ्रष्टं रूपं येषां वैकुण्ठवासिनां तद्भावमित्यर्थः ॥१४०॥

भगवद्भक्ता मद्भक्ताः, यद्वा, भगवन्त ऐश्वर्य्यादिगुणयुक्ताः; यद्वा, परमगौरवेण भगवच्छब्द-प्रयोगः। भगवन्तः ये मद्भक्तास्तद्रूपेण ॥१४१॥

प्रबाधितुं कथञ्चित् पापादौ जातेऽपि काञ्चिदपि बाधां विघ्नं वा कर्त्तुम् ॥१४२॥

देवाः इन्द्राद्याः, हे सत्तमाः; यद्वा, सिद्धाद्याः सत्तमाः परमसाधवः; यद्वा, सत्तमाः श्रीनारदादयश्च तत्रैव नित्यं तिष्ठन्ति ॥१४३॥

सत्तमा हरिभक्ता यत्र ॥१४४॥

हे ब्रह्मन्! मैं जिस कुल में अवतीर्ण होता हूँ, वह कुल मोक्षगामी होता है। हे मुनिवर! मैं सन्तुष्ट होने पर अपर क्या साध्यातीत होता है? मुझको कहो ॥१३८॥

मद्भक्ति विशिष्ट, मत् पूजक, मत्कथानुरागी, मद्ध्यायी, मत् कर्मकारी, मत् प्रणामपर एवं मननशील मनुष्य स्वीय निखिल कुल को अच्युत सारूप्य प्रदान करते हैं ॥१३९-१४०॥

हे द्विजवर! मैं सर्वदा ही प्रच्छन्न देह में भक्त भक्तरूप में सर्वक्षण निखिल लोक रक्षा करता हूँ ॥१४१

उक्त पुराण के अदिति माहात्म्य में श्रीसूतोक्ति यह है—हे विप्रगण! हरिभक्तवृन्द का माहात्म्य श्रवण करें। श्रीहरि ध्यानपरायण में पातकादि सञ्चारित होने पर भी उनमें कोई विघ्न उत्पादन कर सकते हैं? हे साधुसत्तमवृन्द! ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, देवगण, सिद्धवर्ग श्रीहरि कर्त्तृक अधिष्ठित स्थान में सतत निवास करते हैं। विष्णुभक्तगण, निमेषकाल अथवा निमेषार्धकाल जहाँ रहते हैं, मङ्गल वहाँ विराजित है, एवं वह स्थान तीर्थ एवं तपोवन नाम से कीर्त्तित है ॥१४२-१४४॥

उक्त पुराण में अदिति के प्रति श्रीभगवद् वाक्य इस प्रकार है—मत्परायण, रागद्वेषादि वर्जित मद्भक्त-गण सर्वदा असूया एवं दम्भ विसर्जन पूर्वक मेरे गुणादि का कीर्त्तन करते हैं। कभी भी वे सब अपर का

परापकारविमुखा मद्भक्तार्च्चनतत्पराः । मत्कथाश्रवणासक्ता वहन्ति सततं हि माम् ॥१४६॥

तत्रैव ध्वजारोपण-माहात्म्ये श्रीविष्णुदूतोक्तौ—

यतीनां विष्णुभक्तानां परिचर्य्यापरायणैः ।
ईक्षिता अपि गच्छन्ति पापिनोऽपि परां गतिम् ॥१४७॥

तत्रैव श्रीभगवत्तोषप्रकारप्रश्नोत्तरे—

रिपवस्तं न हिंसन्ति न बाधन्ते ग्रहाश्च तम् । राक्षसाश्च न खादन्ति नरं विष्णुपरायणम् ॥१४८
भक्तिर्दृढ़ा भवेद्यस्य देवदेवे जनार्द्दने । श्रेयांसि तस्य सिध्यन्ति भक्तिमन्तोऽधिकास्ततः ॥१४९

तत्रैवाग्रे—

अद्यापि च मुनिश्रेष्ठा ब्रह्माद्या अपि देवताः ।
प्रभावं न विजानन्ति विष्णुभक्तिरतात्मनाम् ॥१५०॥

किञ्च—

धर्म्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्था द्विजोत्तमाः ।
हरिभक्तिपराणां वै सम्पद्यन्ते न संशयः ॥१५१॥

तत्रैव लुब्धकोपाख्यानस्यादौ—

ये विष्णुनिरताः शान्ता लोकानुग्रहतत्पराः । सर्व्वभूतदयायुक्ता विष्णुरूपाः प्रकीर्त्तिताः ॥१५२

अपि-शब्दस्य सर्व्वत्रानुषङ्गः । यतीनामपि विष्णुभक्तानां परिचर्य्यापरायणैरपि ॥१४७॥

न हिंसन्ति, हिंसां कर्त्तुं न शक्नुवन्तीत्यर्थः; यद्वा, कुलक्रमागतवैरवन्तोऽपि न द्विषन्ति, परमप्रीति-विषयत्वात् । एवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥१४८॥

हे द्विजोत्तमाः ॥१५१॥

विष्णुनिरता इत्यस्य लक्षणानि—शान्ता इत्यादिविशेषणानि त्रीणि । तत्रानुग्रह-शब्देनोपकारः, दया-शब्देन तत्कारणं स्नेहो ज्ञेयः; यद्वा, लोकानुग्रहः लोककर्त्तृकस्वविषयकोऽनुग्रहस्तत्परास्तदेकापेक्षका इत्यर्थः । सर्वभूतेषु दयायुक्ताश्च, विष्णुरूपा विष्णुतुल्या इत्यर्थः ॥१५२॥

अपकार नहीं करते हैं । मद्भक्त पूजा में नियुक्त रहते हैं, और जो सब मत्कथा श्रवण में अनुरागी हैं, वे सब निरन्तर मुझको वहन करते हैं ॥१४५-१४६॥

उक्त पुराण के ध्वजारोपण प्रसङ्ग में श्रीविष्णुदूतों का वाक्य यह है—संन्यासी एवं हरिभक्त के परिचर्य्याकारी व्यक्तिगण जिसके प्रति दृष्टिपात करते हैं, पातकी होने पर भी वह परमगति को प्राप्त करता है ॥१४७॥

उक्त पुराण के श्रीभगवत्तोष प्रकार प्रश्नोत्तर में वर्णित है—विष्णुभक्तगण को शत्रुगण हिंसा करने में असमर्थ हैं। ग्रहगण पीड़ा प्रदान नहीं कर सकते हैं। देवदेव जनार्दन में अचला भक्ति होने से निखिल कल्याण सिद्ध होते हैं, कारण, भक्तिपरायणजन ही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ होते हैं ॥१४८-१४९॥

उक्त पुराण के अग्र भाग में उक्त है—हे मुनिश्रेष्ठवृन्द ! विरिञ्चि प्रमुख सुरवृन्द भी अद्यापि हरिभक्त-वृन्द का माहात्म्य अवगत होने में अक्षम हैं ॥१५०॥

और भी वर्णित है—हे द्विजोत्तमवृन्द ! विष्णुभक्तगण ही धर्मार्थकाममोक्षाख्य पुरुषार्थ लाभ करते हैं, सन्देह नहीं है ॥१५१॥

उक्त पुराण के लुब्धकोपाख्यान के प्रथम में वर्णित है—श्रीविष्णु के प्रति अनुरागी, शान्त, लोकों के

विष्णुभक्तिविहीना ये चाण्डालाः परिकीर्त्तिताः ।
चाण्डाला अपि वै श्रेष्ठा हरिभक्तिपरायणाः ॥१५३॥

तत्रैव यज्ञध्वजोपाख्यानस्यादौ श्रीसूतवाक्यम्—

हरिभक्तिरसास्वादमुदिता ये नरोत्तमाः । नमस्करोम्यहं तेषां तत्सङ्गी मुक्तिभाग्यतः । १५४॥
हरिभक्तिपरा ये च हरिनामपरायणाः । दुर्वृत्ता वा सुवृत्ता वा तेषां नित्यं नमो नमः ॥१५५॥

अहो भाग्यमहो भाग्यं विष्णुभक्तिरतात्मनाम् ।
यस्मान्मुक्तिः करस्थैव योगिनामपि दुर्लभा ॥१५६॥

तत्रैव कलिप्रसङ्गे—

घोरे कलियुगे प्राप्ते सर्व्वधर्म्मविवर्जिते । वासुदेवपरा मर्त्याः कृतार्था नात्र संशयः ॥१५७
अत्यन्तदुर्लभा प्रोक्ता हरिभक्तिः कलौ युगे । हरिभक्तिरतानां वै पापबन्धो न जायते ॥१५८॥
वेदवादरताः सर्व्वे तथा तीर्थनिषेविणः । हरिभक्तिरतैः सार्द्धं कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ॥१५९

अतएवोक्तं देवैस्तत्रैव भारतवर्षे-प्रसङ्गे—

हरिकीर्त्तनशीलो वा तद्भक्तानां प्रियोऽपि वा ।
शुश्रूषुर्वापि महतां स वन्द्योऽस्माभिरुत्तमः ॥१६०॥

तेषां तेभ्यो नमस्करोमि, यतः तेषां सङ्गयपि मुक्तिभाक् जीवन्मुक्त एवेत्यर्थ । अतस्तेषां बाह्याचारो न कदापि विचार्य्यः, सर्वथा सम्मान एव कार्य्य इत्याशयेनाह—दुर्वृत्ता वेति ॥१५४-१५५॥

यस्मादन्यस्यापि तेषां प्रसादान्मुक्तिः करस्था स्वाधीनैव । येषामिति पाठेऽपि तथैवार्थः । यद्वा, स्वाश्रितेभ्यो मुमुक्षुभ्यो दातुं करनिहितेत्यर्थः ॥१५६॥

पापरूपो बन्धः; यद्वा, पापेन कथञ्चित् कृतेनापि बन्धः ॥१५८॥

यतः स एवोत्तमः सर्वतः श्रेष्ठः ॥१६०॥

प्रति अनुग्रहवान् एवं सर्वभूत के प्रति दयाशील व्यक्तिगण ही श्रीहरि-स्वरूप होते हैं । श्रीहरि भक्ति वर्जित जनगण को चण्डाल कहते हैं । श्रीहरिभक्तिनिष्ठ होने से चण्डाल भी श्रेष्ठ शब्द से अभिहित होता है ॥१५२-१५३॥

उक्त पुराण के यज्ञध्वजोपाख्यान के आदि में श्रीसूतवाक्य है–जो मानवश्रेष्ठ, विष्णुभक्तिरूप रसास्वादन में आनन्दित हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ । कारण, उनके सान्निध्य से मोक्ष लाभ होता है । श्रीहरिभक्ति परायण एवं श्रीहरिनाम निरत व्यक्तिगण दुर्वृत्त हों अथवा सुवृत्त हों, उनको सदा पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ । अहो ! श्रीहरिभक्तगणों का क्या ही सौभाग्य है ? क्योंकि उनके अनुग्रह से योगिजनदुर्लभ मोक्ष करतल गत होता है ॥१५४-१५६॥

उक्त पुराण में कलिप्रसङ्ग में लिखित है—सर्व धर्म रहित घोर कलिकाल समागत होने से वासुदेव-परायण जनगण कृतार्थ होंगे, सन्देह नहीं है । कथित है, कलिकाल में हरिभक्ति अतीव दुर्लभा है । हरि-भक्तिनिष्ठ जनगण का पातकजनित बन्धन नहीं होता है । वेदवाद परायण एवं निखिल तीथसेवकगण हरि-भक्तवृन्द के षोड़शांश के एकांश के तुल्य नहीं हैं ॥१५७-१५९॥

अतएव उक्त पुराण के भारतवर्ष प्रसङ्ग में सुरगण कर्तृक वर्णित है— हरिकीर्त्तन परायण अथवा हरि-भक्तगण के प्रिय किंवा महाजनगण की सेवानिरत श्रेष्ठजन ही हमारा वन्दनीय है ॥१६०॥

पाद्मे श्रीभगवद्ब्रह्म-संवादे —

दर्शनध्यानसंस्पर्शैर्मत्स्यकूर्म्मविहङ्गमाः । पुष्णन्ति स्वान्यपत्यानि तथाहमपि पद्मज ॥१६१॥

मुहूर्त्तेनापि संहर्त्तुं शक्तौ यद्यपि दानवान् ।
मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः ॥१६२॥

तत्रैव माघ-माहात्म्ये देवदूतविकुण्डल-संवादे—

न यमं यमलोकं न न दूतान् घोरदर्शनान् । पश्यन्ति वैष्णवा नूनं सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥१६३

श्वपाकमिव नेक्षेत लोके विप्रमवैष्णवम् । वैष्णवो वर्णवाह्योऽपि पुनाति भुवनत्रयम् ॥१६४॥

न शूद्रा भगवद्भक्तास्ते तु भावता मताः । सर्व्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्द्दने ॥१६५॥

विष्णुभक्तस्य ये दासा वैष्णवान्नभुजश्च ये । तेऽपि क्रतुभुजां वैश्य गतिं यान्ति निराकुलाः ॥१६६

तत्रैव वैशाख-माहात्म्ये पञ्च-पुरुषाणामुक्तौ —

भव्यानि भूतानि जनार्द्दनस्य, परोपकाराय चरन्ति विश्वम् ॥१६७॥

तथा—

सन्तः प्रतिष्ठा दीनानां दैवादुद्भूतपाप्ननाम् ।
आर्त्तानामार्त्तिहन्तारो दर्शनादेव साधवः ॥१६८॥

पद्मज हे ब्रह्मन् ! यथा मत्स्यादयो दर्शनादिभिः क्रमेण स्वान्यपत्यानि पुष्णन्ति, तथाहमपि दर्शनादिभिः समूचितैरेव सर्वै. स्वभक्तान् पुष्णामीत्यर्थः ॥१६१॥

इत्थं मम सर्व रूपलीलादिवैभवं भक्तोत्सवार्थमेवेत्याह—मुहूर्त्तेनापीति ॥१६२॥

दैवात् पूर्व्वदुष्कर्म्मवशात् अकस्माद्वा उद्भूतं यत् पापं तद्वतां, पाठान्तरेऽपि स एवार्थः, अतएव दीनानां जनानां सन्त एव प्रतिष्ठा आश्रयः; यद्वा, साक्षात् प्रतिष्ठारूपा एव, यथा प्रतिमादीनां प्रतिष्ठयैव शोधनं, पूज्यत्वादिकञ्च सम्पद्यते, तथा सद्भ्य एव तेषां तदित्यर्थः ॥१६८॥

पद्मपुराण के श्रीभगवत्-ब्रह्म-संवाद में लिखित है—हे ब्रह्मन् ! जिस प्रकार मीन, कूर्म एवं पक्षीगण, दर्शन, ध्यान एवं स्पर्श द्वारा निज-निज सन्तानगण का पोषण करते हैं, उस प्रकार ही मैं भी निज भक्तवृन्द का पोषण करता हूँ । मैं मुहूर्त्त काल के मध्य में दानवगण को विनष्ट करने में सक्षम हूँ तथापि भक्तवृन्द के प्रमोदार्थ नाना रूप कार्य्यानुष्ठान करता हूँ ॥१६१-१६२ ।

उक्त पुराण के माघ-माहात्म्य के देवदूत-विकुण्डल-संवाद में उक्त है—मैं पुनः पुनः सत्यकर निःसंशय के सहित कहता हूँ, वैष्णवगण, यम, यमालय, किंवा घोर दर्शन यमदूतगण का दर्शन नहीं करते हैं, विष्णु-भक्तिरहित विप्र को श्वपच चण्डाल सदृश भी न देखें । अन्त्यज जाति वैष्णव होने से त्रिभुवन को पवित्र कर सकती है । भगवद्भक्ति परायण व्यक्तिगण, कदाच शूद्र शब्द से अभिहित नहीं होते हैं, वे सब भागवत शब्द से कीर्त्तित होते हैं । सर्व वर्ण के मध्य में जो मानव केशव के प्रति भक्तिहीन हैं वे सब ही शूद्र हैं । विष्णुभक्त के दास एवं वैष्णवान्नभोजिगण निराकुल होकर यज्ञभुक्गण की गति को प्राप्त करते हैं ॥१६३-१६६॥

उक्त पुराण के वैशाख माहात्म्य में पञ्चपुरुषगण के वाक्य में प्रकाश है—हरिभक्तगण, परोपकारार्थ ही संसार में भ्रमण करते हैं ॥१६७॥

उक्त विषय में उक्त है—पूर्वानुष्ठित कुकर्म्म अनुष्ठानजनित पातकी दीन जनगण के एकमात्र आश्रय साधु पुरुषगण हैं, साधु पुरुषों के दर्शन से तत्काल पीड़ित पुरुषों की पीड़ा विदूरित होती है ॥१६८॥

तत्रैवोत्तरखण्डे शिवपार्वती-संवादे —

न कर्म्मबन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते । विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः ॥१६९॥
न दास्यं वै परेशस्य बन्धनं परिकीर्त्तितम् । सर्व्वबन्धननिर्मुक्ता हरिदासा निरामयाः ॥१७०

ब्रह्माण्डपुराणे जन्माष्टमीव्रत-माहात्म्ये श्रीचित्रगुप्तोक्तौ —

दर्शन-स्पर्शनालाप-सहवासादिभिः क्षणात् ।
भक्ताः पुनन्ति कृष्णस्य साक्षादपि च पुक्कशम् ॥१७१॥

त्यक्तसर्व्वकुलाचारो महापातकवानपि । विष्णोर्भक्तं समाश्रित्य नरो नार्हति यातनाम् ॥१७२

वाशिष्ठे —

यस्मिन् देशे मरौ तज्ज्ञो नास्ति सज्जनपादपः ।
सफलः शीतलच्छायो न तत्र दिवसं वसेत् ॥१७३॥

सदा सन्तोऽभिगन्तव्या यद्यप्युपदिशन्ति न । या हि स्वैरकथास्तेषामुपदेशा भवन्ति ते ॥१७४

गारुड़े —

सत्रयाजिसहस्रेभ्यः सर्व्ववेदान्तपारगः । सर्व्ववेदान्तवित्कोट्या विष्णुभक्तो विशिष्यते ॥१७५
वैष्णवानां सहस्रेभ्य एकान्त्येको विशिष्यते । एकान्तिनस्तु पुरुषा गच्छन्ति परमं पदम् ॥१७६

कर्म्मणा वध्यते सम्बध्यते इति कर्म्मबन्धनम्, अनुचरत्वं दास्यं, हि यतः ॥१६९॥
बन्धनं संसारबन्धापादकं, निरामया निर्द्दोषाः ॥१७०॥
तं भगवन्तं जानातीति तज्ज्ञः, दिवसमेकदिनमपि ॥१७३॥
तेषां याः स्वैरकथाः अन्योऽन्यं स्वच्छन्दवार्त्तारता अपि । ते तव, त एव वा; उपदेशविशेषणत्वेन पुंस्त्वम्, उपदेशा भविष्यन्ति ॥१७४॥

उक्त पुराण के उत्तरखण्डस्थ शिव-पार्वती-संवाद में लिखित है—वैष्णववृन्द को कर्मबन्धन निमित्त जन्म ग्रहण करना नहीं पड़ता है, श्रीहरिदास्य ही बुधगण कर्त्तृक मोक्ष शब्द से कीर्त्तित है, परमेश्वर श्रीहरि का दास्य कदाच भवबन्धन का कारण नहीं हो सकता है। कलिकलुष रहित श्रीहरिदासवृन्द सकल बन्धनों से मुक्त हैं ॥१६९-१७०॥

ब्रह्माण्ड पुराण के जन्माष्टमी-व्रत-माहात्म्यस्थ श्रीचित्रगुप्त की उक्ति है—श्रीहरि के भक्तवृन्द, दर्शन, स्पर्शन, आलाप एवं सहवासादि के द्वारा साक्षात् पुक्कश को भी आशु पवित्र करते हैं। विष्णुभक्त का आश्रय ग्रहण करने से निखिल कुलाचार त्यागी एवं अखिल पाप लिप्त व्यक्ति को भी क्लेश भोग नहीं करना पड़ता है ॥१७१-१७२॥

वाशिष्ठ में वर्णित है—जिस मरुप्रदेश में भगवत्तत्वज्ञ सफल शीतलच्छाया विशिष्ट सज्जन तरु नहीं है, वहाँ एक दिन भी निवास न करे। सर्वदा साधुगण के समीप में गमन करना उचित है। वे सब उपदेश प्रदान न करने पर भी उनके स्वच्छन्द कथोपकथन ही उपदेश स्वरूप हैं ॥१७३-१७४॥

गरुड़ पुराण में वर्णित है—एक जन सर्ववेदान्ताभिज्ञ, सहस्र याज्ञिक की अपेक्षा श्रेष्ठ है, एकजन विष्णु-भक्त, कोटि वेदान्तविद् अपेक्षा श्रेष्ठ है, एक जन एकान्ती वैष्णव, सहस्र वैष्णव से श्रेष्ठ है। एकान्ती वैष्णव गण ही परमपद प्राप्त करते हैं ॥१७५-१७६॥

श्रीभगवद्गीतासु (९-३०-३३)—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।१७७

क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।१७८।।
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।१७९।।

किञ्च तत्रैव (श्रीगी ६।४७)—

योगिनामपि सर्व्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।१८०

मद्भक्तेरतितर्क्यः प्रभाव इति दर्शयन्नाह—अपीति; अत्यन्तं दुराचारोऽपि नरो यदि पृथक्त्वेन देवतान्तर-भक्तिमकुर्वन् मामेव परमेश्वरं श्रीदेवकीनन्दनं भजति, मद्भजने मतिं कुर्य्यादित्यर्थः, तर्हि साधुः श्रेष्ठ एव मन्तव्यः । यतोऽसौ सम्यक् व्यवसितः शोभनमध्यवसायं कृतवान् ।।१७७।।

ननु कथं समीचीनाध्यवसायमात्रेण साधुर्मन्तव्यः ? तत्राह—क्षिप्रमिति, दुराचारोऽपि मां भजन् शीघ्रं धर्म्मचित्तो धर्म्मस्वरूपो वा भवति प्राप्नोति; यद्वा, भगवद्भक्तिलक्षणस्य धर्म्मस्य आत्मा प्रवर्त्तको भवति; ततश्च शश्वच्छान्तिं शाश्वतीमुपरमशान्तिं परमेश्वरनिष्ठां नितरां गच्छति प्राप्नोति । कुतर्ककर्कशवादिनो नैवं मन्येरन्निति शोकव्याकुलमर्ज्जुनं प्रोत्साहयति—हे कौन्तेय ! पटहकाहलादि-(कोलाहलादि) महाघोषपूर्वकं विवदमानानां सभां गत्वा बाहुमुत्क्षिप्य निःशङ्कं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु । कथम् ? मे परमेश्वरस्य, यद्वा, मे परमेश्वरभक्तस्यापि भक्तः सुदुराचारोऽपि न प्रणश्यति, अपि तु कृतार्थ एव भवतीति । ततश्च ते प्रौढ़िवादविजृम्भ-विध्वंसितकुतर्काः सन्तो निःसंशयं त्वामेव गुरुत्वेनाश्रयेरन् ।।१७८।।

आचारभ्रष्टं मद्भक्तिः पवित्रीकरोतीति किमत्र चित्रम् ? यतो मद्भक्तिर्यथाकथञ्चित् मदाश्रयापि वा दुष्कुलानप्यनधिकारणोऽपि संसारान्मोचयतीत्याह—मां हीति । येऽपि पापयोनयः स्युः, निकृष्टजन्मानो-ऽन्त्यजादयो भवेयुः, ये पि वैश्याः केवलं कृष्यादिनिरताः, स्त्रियः शूद्रादयश्चाध्यनादिरहिताः, तेऽपि मां व्यपाश्रित्य संसेव्य; यद्वा, विधित्यागादिना विरूपतया अपकर्षणापि यथाकथञ्चिदाश्रयमात्रं कृत्वापि परां गतिं वैकुण्ठप्राप्तिलक्षणां यान्ति लभन्ते । हि निश्चितं, यदेवं तदा सज्जातयः सत्कुलाः सदाचाराश्च मद्भक्ताः परां गतिं यान्तीति किं वक्तव्यमित्याह—किमिति । पुण्याः सुकृतिनो ब्राह्मणाः, तथा राजानश्चैते ऋषयश्च, एवम्भूताः भक्ताः सन्तः परां गतिं यान्तीति किं पुनर्वक्तव्यमित्यर्थः ।।१७९।।

युक्ततमः सर्व्वयोगिश्रेष्ठ इत्यर्थः ।।१८०।।

श्रीमद्भगवत गीता में वर्णित है—अनन्य भक्त होकर मेरी आराधना करने से सुदुराचार जन भी समुचित अध्यवशायशील साधु में वरेण्य हो सकता है । वह भी आशु धर्मशील एवं नित्य शान्तिभागी होता है । हे अर्जुन ! मद्भक्त का कभी विनाश नहीं होता है, यह निश्चय जानना चाहिये । हे अर्जुन ! निकृष्ट-जन्मा अन्त्यजादि, स्त्री, वैश्य अथवा शूद्र मेरी शरण ग्रहण करने से उसे परमगति मिलती है । अतएव पुण्यजन्मा ब्राह्मण, अथवा क्षत्रिय वंशोत्पन्न राजर्षि भक्त के पक्ष में सन्देह क्या है ? ।।१७७-१७९।।

और भी उक्त श्रीभगवद् गीता में उक्त है—सकल प्रकार योगिगण के मध्य में जो मुझमें अर्थात् श्रीकृष्णरूप मेरे चरणों में अन्तरात्मा समर्पण पूर्वक श्रद्धा के सहित मेरी आराधना करते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ योगी हैं, यह ही मेरा अभिमत है ।।१८०।।

श्रीभागवतस्य प्रथमस्कन्धे श्रीपरीक्षितोक्तौ (१९।३३)—

येषां संस्मरणात् पुंसः सद्यः शुध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शन-स्पर्श-पादशौचासनादिभिः ॥१८१॥

तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरस्य (१६।४)—

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य, नन्वञ्जसा सूरिभिरीड़ितोऽर्थः।
तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द,-पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥१८२॥

देवहूतिं प्रति कपिलदेवस्य (श्रीभा ३.२५।३८)—

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे, नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढ़ि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च, सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥१८३॥

येषां भवादृशां संस्मरणादपि, सं-शब्दस्तस्यैव स्वतः सम्यक्त्वाभिप्रायेण ईषदर्थे वा। पुंसामिति—अविशेषेणाखिलजनानामेवेत्यर्थः। आदि-शब्देन सम्भाषणादीनि, सुचिरं श्रमो यस्मिन् तस्य पुंसां श्रुतस्य शास्त्राभ्यासस्य अयमेव अर्थः फलम्। ननु निश्चितं, अञ्जसा सुखेन, ईड़ितः स्तुतस्तमेवाह--मुकुन्दपादारविन्दं येषां हृदयेष्वस्ति, तेषां गुणानुस्मरणमिति। अञ्जसेत्यस्यात्रैवान्वयः ॥१८१-१८२॥

हे शान्तरूपे! कदाचिदपि न नङ्क्ष्यन्ति, भोगहीना न भवन्ति। तत्र हेतुः—अनिमिषो मे हेतिः मदीयं कालचक्रं न लेढ़ि, न तान् ग्रसति; यद्वा, जिह्वाग्रेणापि न स्पृशति, तत्रैव हेतुः—येषामिति। सुत इव स्नेह-विषयः, सखेव विश्वासास्पदं, गुरुरिवोपदेष्टा, सुहृदिव हितकारी, इष्ट दैवतमिव पूज्यम्, एवं सर्वभावेन ये मां भजन्ति, तान् मदीयं कालचक्रं न ग्रसतीत्यर्थः। यद्वा, न नङ्क्ष्यन्ति विचित्रविषयादिभोगेऽपि निजमार्गान्न भ्रश्यन्तीत्यर्थः। यद्वा, ममादृदया न भवन्ति, अतः कालचक्रं जिह्वया लेढुं कथञ्चित् स्प्रष्टुं न शक्नोतीत्यर्थः। चकारोऽत्र विकल्पे तेषामेव तरत्वेनैव सर्वसिद्धेः। यद्वा, येषां साक्षात् प्रियादिरूपोऽप्यहं भवामि। तत्र प्रियः उपकारादिना प्रीतिविषयः, आत्मा स्वभावत एव प्रियः, सुहृदः सर्वज्ञातयः सम्बन्धिनश्च, इष्टं दैवतम्, आत्म-प्रदा नाथः, एषां दुर्घटत्वं यथोत्तरमूह्यम्; यथा प्रियो भर्त्ता दण्डकारण्यवासिमुनीनां गोपीजनानाञ्च आत्मा स्वयमेवाहम्। एवमत्र भक्तमाहात्म्यवर्णनरसेनक्रमो नापेक्षितः ॥१८३॥

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में श्रीपरीक्षित वाक्य यह है—प्रभो! आप सबका स्मरण से ही लोक समूह का गृह सद्यः पवित्र होता है, दर्शन, स्पर्शन, पादप्रक्षालन एवं उपवेशन प्रभृति के द्वारा जो पवित्र होगा, इसमें आश्चर्य्य क्या है? ॥१८१॥

तृतीय स्कन्ध में श्रीविदुर वाक्य में लिखित है—हे मुने! जिनके हृदय में श्रीमुकुन्द के चरणकमल विद्यमान हैं, उनके गुणों को सुनना ही पुरुषों के चिरश्रमार्जित श्रवणादि का फल है, बुद्धिमान व्यक्तिगण उन्हीं का स्तव यथार्थ रूप से करते हैं ॥१८२॥

देवहूति के प्रति कपिलदेव ने कहा है—हे शान्तरूपे! मद्भक्ति योग से मुक्त होकर जनगण वैकुण्ठवासी होकर विविध भोग्यवस्तु प्राप्त करते हैं। इसमें इस प्रकार आशङ्का करना समीचीन नहीं है कि स्वर्गादि के समान वैकुण्ठस्थित भोक्ता भी भोग्यसमूह का क्षय कालक्रम से होता है। जो मानव, एकान्तभाव से मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, उन सबको कभी भोगहीन नहीं होना पड़ता है एवं मेरा अनिमिष कालचक्र भी उन सबको कभी ग्रास नहीं करता है। फलतः मैं जिनका आत्मा, अर्थात् आत्मवत् प्रिय, पुत्रवत् स्नेहभाजन सखा सदृश विश्वासास्पद, गुरुतुल्य उपदेष्टा, सुहृत् सदृश हितकारी, इष्टदेवसम पूजनीय हूँ, अर्थात् जो मानव उक्त भाव से मेरी आराधना करते हैं, मदीय कालचक्र उन सबके निकट परास्त होता है ॥१८३॥

चतुर्थे श्रीध्रुवस्य (९।१०)—

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म,-ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।

सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्, किंवान्तकासिलुलितात् पततां विमानात् ।।१८४

श्रीरुद्रस्य (श्रीभा ४।२४।२९)—

स्वधर्म्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्, विरिञ्चितामेति ततः परं हि माम् ।

अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं, पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये ।।१८५।।

पञ्चमे श्रीजड़भरतस्य (१२।१२)—

रहूगणैतत् तपसा न याति, न चेज्यया निर्व्वपणाद्‌गृहाद्वा ।

न च्छन्दसा नापि जलाग्निसूर्य्यै,-र्विना महत्पादरजोऽभिषेकात् ।।१८६।।

तनुभृतामविशेषेण सर्व्वेषामेव जीवानाम्, अप्यर्थे वा-शब्दः, भवज्जनानां कथायाः श्रवणेनापि; यद्वा, विकल्प एव, ततश्च पादपद्मध्यानेन सह वैष्णवकथाश्रवणस्य साम्यतो माहात्म्यविशेष उक्तो भवति। स्वमहिमनि निजानन्दरूपे; यद्वा, स्वः असाधारणः अन्यानन्दाद्यपेक्षया विशिष्टो महिमा यस्य तस्मिन्नपि मा भूत्, न भवेदित्यर्थः। अन्तकस्य असिना कालेन लुलितात् खण्डितात् विमानात् पततां सा नास्तीति, किमु वक्तव्यम् ।।१८४।।

स्वधर्म्मनिष्ठः पुमान् बहुभिर्जन्मभिः विरिञ्चितां प्राप्नोति, ततोऽपि पुण्यातिशयेन मामेति; भागवतस्तु अथ देहान्ते भागवतत्वानन्तरं वा अव्याकृतं प्रपञ्चातीतं वैष्णवं पदमेति। यथाहं रुद्रो भूत्वा आधिकारिकवद्-वर्त्तमानः, विबुधा देवाश्च आधिकारिकाः, कलात्यये अधिकारान्ते लिङ्गभङ्गे सत्येष्यन्ति; यद्वा, कलात्यये प्रकृत्यतिक्रमे ।।१८५।।

हे रहूगण ! एतत् श्रीवासुदेवरूपं यस्तु तपसा पुरुषो न याति, इज्यया वैदिककर्म्मणा, निर्वपणात् अन्नादिसंविभागेन, गृहाद्वा, तन्निमित्तपरोपकारेण, छन्दसा वेदाभ्यासेन, जलाग्न्यादिभिरुपासितैरपि, अभिषेक-शब्देन महत्पादरजसः सर्व्वतीर्थमयत्वं सूच्यते ।।१८६।।

चतुर्थस्कन्द में श्रीध्रुव ने कहा है—हे नाथ ! आपके चरणकमलों का ध्यान अथवा भक्तजनों का वाक्य श्रवण से जो आनन्द लाभ होता है, आत्मानन्दस्वरूप ब्रह्मसाक्षात्कार में भी इस प्रकार आनन्द लाभ नहीं होता है, अतएव अन्तक के काल रूपी खड्ग के द्वारा खण्डित विमान से जो पतित हो रहे हैं, उनकी बात और क्या कहूँ ? ।।१८४।।

चतुर्थ स्कन्ध में ही रुद्र वाक्य इस प्रकार है—स्वधर्म निष्ठ मानव अनेक जन्म के पश्चात् ब्रह्मत्व लाभ करते हैं, अनन्तर रुद्रत्व लाभ होता है। किन्तु मद्भक्त का देहावसान के पश्चात् ही प्रपञ्चातीत वैष्णवपद लाभ होता है। इस विषय में दृष्टान्त यह है—मैं रुद्र होकर अधिकारी के समान विद्यमान हूँ, एवं देवगण भी अधिकारी के समान विद्यमान हैं। किन्तु जिस अधिकार का अवसान होगा, उस समय ही लिङ्ग देह भङ्ग होगा, एवं प्रपञ्चातीत पद प्राप्ति होगी ।।१८५।।

पञ्चम स्कन्ध में श्रीजड़भरत वाक्य में उक्त है— हे रहूगण ! महापुरुषवृन्द की चरणरेणु से अभिसिक्त होने से ही वासुदेव का लाभ होता है, अन्यथा तपस्या, वैदिक कर्म, अथवा अन्नादि संविभाग किंवा गृहस्थ-धर्मार्थ परोपकार अथवा वेदाभ्यास, जल, अग्नि एवं सूर्य्योपासना प्रभृति के द्वारा वासुदेव तत्त्व का लाभ नहीं होता है ।।१८६।।

षष्ठे श्रीपरीक्षितः (१४।३-५)—

रजोभिः सम्संख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः। तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ॥१८७॥

प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम। मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति ॥१८८॥

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥१८९॥

श्रीशिवस्य (श्रीभा ६।१७।२८)—

नारायणपराः सर्व्वे न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्ग-नरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥१९०॥

सप्तमे श्रीप्रह्लादस्य (५।३२)—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं, स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं, निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥१९१॥

पार्थिवै रजोभिः परमाणुभिः समाः संख्याता अनन्ता इत्यर्थः; जन्तवो जीवाः, तेषां मध्ये ये केचन कतिपये श्रेयो धर्म्ममीहन्ते कुर्व्वन्ति ॥१८७॥

मुच्यते गृहादिसङ्गान्मुच्यते, सिध्यति तत्त्वं जानाति; यद्वा, मुच्येत संसारान्मुक्तो भवेत, तस्मिन्नपि कश्चिदेव सिध्यति, स्वस्वरूपानुभवरूपमानन्दांशं प्राप्नोति। एवं मुक्तेः सकाशात् सिद्धेर्विशेषः यद्वा, मुच्येत जीवन्मुक्तो भवेत्, सिध्यति भगवति परमानन्दसमुद्रे लीयते; एवं जीवन्मुक्तत्वे स्वरूपानुभवरूपानन्दांशमात्रा-नुभवात्, सिद्धत्वे चानन्दविशेषानुभवेन पूर्व्वतोऽस्य श्रैष्ठ्यं सिद्धमेव। भगवल्लयत्वेऽपि पृथक्स्थित्यभिप्राये-णोत्तरश्लोके सिद्धानामिति बहुत्वम्; एतच्च श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे सम्यङ्निरूपितमेवास्ति ॥१८८॥

मुक्तानामपि सिद्धानामपि कोटिष्वपि मध्ये सुदुर्ल्लभः परमदुष्प्राप्यः। एवं परमदौर्लभ्येनास्यात्यन्त-श्रेष्ठतमत्वमुक्तम्। प्रशान्तात्मेति—स्वरूपमात्रनिर्द्देशः, तस्यैव मुख्यतमत्वं सम्पूर्णप्रशान्तत्वात्; हे महामुने! इति एतच्च त्वमेव सम्यग्जानासि, नान्यः; यद्वा, त्वमेवैक एतादृशः, नान्य इति भावः ॥१८९॥

कुतश्चन कस्माच्चिदपि देवादेः शापादेर्वा सकाशान्न भयं प्राप्नुवन्ति; यतः स्वर्गादिष्वपि तुल्योऽर्थः प्रयोजनमिति द्रष्टुं शीलं येषां ते, तथा न चान्यत् किमपि वाञ्छन्त्यपीति भावः ॥१९०॥

निष्किञ्चनानां निरस्तविषयाभिमानानां भगवत्प्रीत्या त्यक्ताशेषपरिग्रहाणां वा, अतएव महत्तमानां पादरजोऽभिषेकं यावन्न वृणीत, प्रीत्या न भजेत्, तावत् श्रुतिवाक्यादिना ज्ञातमपि एषां दुराशयानां मतिः उरुक्रमस्य भगवतः श्रीकृष्णस्याङ्घ्रिं न स्पृशति, न प्राप्नोति, असम्भावनादिभिर्विहन्यत इत्यर्थः। अनर्थस्य संसारस्यापगमो यस्या अङ्घ्रिस्पर्शिन्या मतेरर्थः प्रयोजनं, महदनुग्रहाभावान्न तत्त्वनिश्चयः, नापि मोक्षस्तेषा-मित्यर्थः; यद्वा, अनर्थस्य अर्थतया भासमानस्य विचारेणानर्थरूपस्य; यद्वा, वेदान्तादौ न विद्यते अर्थो यस्मात्

षष्ठ स्कन्ध के परीक्षित् वाक्य में वर्णित है—हे ब्रह्मन्! इस पृथिवी के परमाणु सदृश असंख्य जीव विद्यमान हैं, किन्तु तन्मध्य में कतिपय मानव ही श्रेयःसाधन अर्थात् स्वधर्माचरण में तत्पर होते हैं। हे द्विजोत्तम! उन मनुष्यों में मुक्तिकामी व्यक्ति विरल होते हैं, कदाचित् कोई व्यक्ति, गृहादि सङ्ग त्यागी होकर तत्त्वज्ञ होते हैं, उक्त मुक्त एवं तत्त्वज्ञ व्यक्तिवृन्द के मध्य में नारायण परायण प्रशान्तात्मा व्यक्ति अतिशय दुर्लभ है ॥१८७-१८९॥

षष्ठ स्कन्ध में पार्वती के प्रति श्रीशिव वाक्य यह है– नारायण परायण व्यक्तिगण किसी से भी भीत नहीं होते हैं, वे सब स्वर्ग, मोक्ष, एवं नरक में समान प्रयोजन बुद्धि रखते हैं ॥१९०॥

सप्तमस्कन्ध में श्रीप्रह्लाद वाक्य में लिखित है—हे पितः! यद्यपि एक विष्णु ही समस्त प्राणियों में गूढ़ रूप में अवस्थित हैं, सर्वव्यापी हैं, सर्वभूतान्तर्य्यामी हैं, तथापि विषयाभिमानशून्य महत्तम पुरुषवृन्द की

किञ्च (श्रीभा ७।९।१०)—

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ,-पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ,-प्राणं पुनाति स्वकुलं न तु भूरिमानः ॥१९२॥

अष्टमे श्रीगजेन्द्रस्य (३।२०)—

एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं, वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः ।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं, गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥१९३॥

तस्य मोक्षस्यागमो यस्य पादरजोऽभिषेकस्यार्थः । भगवद्भक्तकृपाविशेषमन्तरेण न मोक्षेच्छानिवृत्तिः, न च तां विना मतेर्भगवच्चरणारविन्दस्पर्शनमपीति ॥१९१॥

'मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज,-स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः' (श्रीभा ७।९।९) इति पूर्व्वोक्ता ये धनादयः द्विषट् द्वादशगुणास्तैर्युक्ताद्विप्रादपि श्वपचं वरिष्ठं मन्ये; यद्वा, उद्यमपर्व्वणि सनत्सुजातोक्ता द्वादश-धर्म्मादयो गुणाः द्रष्टव्याः; तथाहि—'धर्म्मश्च सत्यञ्च दमस्तपश्च, अमात्सर्य्यं ह्रीस्तितिक्षाऽनसूया । यज्ञश्च दानञ्च धृतिः श्रुतञ्च,व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य ॥' इति । कथम्भूताद्विप्रात् ? अरविन्दनाभस्य पादारविन्दतो विमुखात् । कथम्भूतं श्वपचम् ? तस्मिन् अरविन्दनाभपादारविन्दे अर्पिता मनआदयः येन तम्; ईहितं कर्म्म; वरिष्ठत्वे हेतुः—सः एवम्भूतः श्वपचः स्वं कुलं पुनाति, भूरिर्मानो गर्व्वो यस्य, स तु विप्र आत्मानमपि न पुनाति, कुतः कुलम् ? यतो भक्तिहीनस्यैते गुणा गर्व्वायव भवन्ति, अतो हीन इति भावः। यद्वा, तादृशाद्विप्रात् श्वपचमेवाहं मन्ये आद्रिये, भगवद्विमुखत्वेन विप्रस्य श्वपचोऽप्यधमत्वम् । श्वपचस्य च जात्यादिस्वभावेन भगवज्ज्ञानाद्यसम्भवात् केवलं भगवत्याभिमुख्याभावः, न तु वैमुख्यम्; अतस्तस्मादप्ययमेव साधुः । अतएव तं मन्ये इति । तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं सन्तं वरिष्ठं सर्व्वोत्कृष्टं मन्ये । तत्र हेतुः—पुनातीति । यद्वा, आदितो विप्रस्य सन्ध्योपासनादौ स्वत एव नित्यं भगवदाभिमुख्यमस्त्येव, पश्चाच्चाध्यनादिना तादृशद्वादश-गुणाः सम्पन्नाः, अतोऽधुनाभिमुख्यविशेषस्तावद्दूरेऽस्तु, अथच 'अहमेव सत्यं परं ब्रह्म नारायणः, मत्तोऽन्यच्च दृष्टश्रुतं सर्व्वं मन्मायाकल्पितं मय्यध्यस्तमेव' इत्यादिमिथ्याभिमानेन सता भगवत्पादारविन्दाद्वैमुख्यं गतादिति; अन्यत् समानम् ॥१९२॥

भगवत्प्रपन्ना ये एकान्तिनः, भगवद्भक्तेषु मध्ये ये एकान्तभक्ता इत्यर्थः; यद्वा, भगवद्भिर्ब्रह्मादिभिर्मुक्तैर्वा प्रपन्ना आश्रिता, अतएव ते तस्य भगवतश्चरितं गायन्तः सन्तस्तत एव आनन्दरससमुद्रमग्नाः सन्तः यस्य अर्थमैश्वर्य्यादिकं, यद्वा, यस्येति यस्मात् कञ्चनार्थं मोक्षादिकं श्रीवैकुण्ठलोकमपि न वाञ्छन्ति । कुतः ? सुमङ्गलं परमसुखात्मकम् अत्यद्भुतञ्च अनिर्व्वचनीय-माहात्म्यमिति । एवमेकान्तिनां माहात्म्यं लक्षणञ्चोक्तम् ॥१९३॥

चरणरेणु के द्वारा यावत् अभिषिक्त नहीं होता, तावत् वेदवाक्य द्वारा श्रीविष्णु ज्ञात होने पर भी गृहासक्त मानवों की मति श्रीविष्णु के चरण को प्राप्त नहीं कर सकती है, किन्तु असम्भावनादि द्वारा विघ्नाभिभूत होती है, श्रीभगवत् चरणारविन्द लाभ होने से ही संसार विदूरित होता है ॥१९१॥

प्रह्लाद कहे थे—हे प्रभो ! मैं मानता हूँ, द्वादश गुण सम्पन्न विप्र भी यदि पद्मनाभ भगवान् के पदारविन्द विमुख होते हैं तो उनकी अपेक्षा जिनके मन, वाक्य, कर्म, अर्थ, प्राण भगवान् में ही अर्पित हैं, तादृश चण्डाल भी निज कुल को पवित्र करने में समर्थ हैं, किन्तु प्रभूत गर्वान्वित उक्त विध विप्र, निज आत्मा को पवित्र करने में अक्षम हैं, अतएव कैसे निज कुल को पवित्र कर सकेंगे ? वस्तुतः भगवद्भक्ति-हीन के गुणसमूह केवल गर्व प्रकाश के निमित्त ही होते हैं । सुतरां वे सब चण्डाल से भी निकृष्ट हैं ॥१९२॥

अष्टम स्कन्ध में गजेन्द्र की उक्ति यह है—भक्तगण के मध्य में जो मानव, भगवान् के एकान्त भक्त हैं,

नवमे श्रीभगवतः (४।६३-६६, ६८)—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज । साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥१९४॥

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः सधुभिर्विना । श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥१९५

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥१९६॥

मयि निर्व्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः । वशे कुर्व्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥१९७

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् । मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥१९८॥

तत्रैव श्रीदुर्व्वाससः (श्रीभा ९।५।१५)—

दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम् ।
यैः संगृहीतो भगवान् सात्वतामृषभो हरिः ॥१९९॥

कथम्भूतैः ? साधुभिर्भक्तैः, न तु कर्म्मादिपरैः; एवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥१९४॥

नाशासे न स्पृहयामि, नापेक्षे वा, आत्यन्तिकीं मदेकनिष्ठाम ॥१९५॥

दारादीन् वित्तञ्च धनं, नृणामिति भगवदुक्तेः; इमं परञ्च लोकं हित्वा उपेक्ष्य ॥१९६॥

मयि निर्व्बद्धहृदयत्वादेव समदर्शिन इति—स्वर्गनरकादिषु तुल्यदृष्टयः; तदुक्तमेव श्रीरुद्रेण—'स्वर्गापवर्ग-नरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः' (श्रीभा ६।१७।२८) इति ॥१९७॥

अतः मम हृदयमन्तरङ्गं सारवस्तु वा, अहञ्च तेभ्योऽन्यत् मनागपि न जाने, एवं तैर्मम हृदयाक्रमणात् तेषामधीन एवाहं, न स्वतन्त्र इति भावः ॥१९८॥

सात्वतां सात्वतानाम् ऋषभः श्रीदेवकीनन्दनः, भगवान् परमस्वतन्त्रोऽपि हरिर्यथाकथञ्चित् स्मृतोऽपि संसारदुःखापहारकः, यैः संगृहीतः भक्त्या वशीकृतस्तेषां साधूनाम्, अतएव महात्मनां कोऽर्थो दुष्करः दुस्त्यजो वा, अतो ब्रह्मादिदुष्कर-मत्प्राणरक्षादिकं मन्महापराधक्षमादिकञ्च युक्तमेवेति भावः ॥१९९॥

एवं भगवान् के निकट कुछ भी अभिलाष नहीं करते हैं, वे सब भगवान् के अद्भुत सुमङ्गल चरित्र गान द्वारा आनन्दार्णव में निमग्न रहते हैं ॥१९३॥

नवम स्कन्ध में श्रीवैकुण्ठनाथ के वाक्य है—हे द्विज ! मैं भक्तपराधीन हूँ, तज्जन्य अस्वतन्त्र के तुल्य मत् प्रिय भक्तजन हैं, एतज्जन्य साधुजनगण मेरे हृदय को ग्रास किये हैं ॥१९४॥

हे ब्रह्मन् ! मैं ही जिनकी परमागति हूँ. उन साधुजनगण व्यतीत मैं निज आत्मा को एवं आत्यन्तिकी श्री को भी अत्यन्त प्रीति नहीं करता हूँ ॥१९५॥

जिन्होंने पुत्र, कलत्र, गृह, स्वजन, धन, प्राण एवं इहलोक, परलोक प्रभृति परित्याग पूर्वक मेरी शरण ली है, मैं किस प्रकार उन सबको त्याग दूँ ? ॥१९६॥

साध्वी स्त्री जिस प्रकार सत् पति को वशीभूत करती है, ऐसे ही सर्वत्र समदर्शी साधु पुरुषों ने मेरे प्रति निज निज हृदयार्पण पूर्वक मुझको वशीभूत किया है ॥१९७॥

अतएव साधुवृन्द ही मेरे हृदय हैं, मैं भी उन सबका हृदय हूँ, वे सब मुझको छोड़कर अपर किसी को नहीं जानते, मैं उन सबको छोड़कर अपर कुछ भी नहीं जानता हूँ ॥१९८॥

नवमस्कन्ध में श्रीदुर्वासा का कथन है-जिन्होंने सात्वतपति श्रीहरि को संग्रह किया है, अर्थात् वशीभूत

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्म्मलः ।
तस्य तीर्थपदः किंवा दासानामवशिष्यते ॥२००॥

दशमे देवस्तुतौ (२।३३) —

तथा न ते माधव तावकाः क्वचि,-द्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया, विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो ॥२०१॥

श्रीवादरायणेः (श्रीभा १०।९।२१)—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥२०२॥

निर्म्मलः अविद्यासम्बन्धमलरहितः मुक्त इत्यर्थः । दासानां सेवापराणां सर्व्वथा भक्तिपराणां वा ॥२००॥

माधव हे श्रीमधुवंशसमुद्रचन्द्र ! त्वर्थे तथाशब्दः 'येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः' (श्रीभा १०।२।३२) इत्यादिनोक्तेभ्योऽभक्तेभ्यो भिन्नक्रमापेक्षया तावकास्त्वदीयास्तु क्वचित् कदाचिदपि न भ्रश्यन्ति न स्खलन्ति, किमुत प्राप्तपरमपदात्; यद्वा, मृग्यते इति मार्गं श्रीमच्चरणारविन्दयुगलं, तस्मादपि न भ्रश्यन्ति, किमुत भक्तिमार्गात् । कुतः ? त्वयि बद्धं दृढ़तया योजितं सौहृदं प्रेम यैस्ते । अत्र बद्ध-शब्देनेदं सूच्यते—यथा दृढ़रज्ज्वा महावृक्षे दृढ़ं बद्धा नौर्नदीवेगादिना स्वस्थानाच्चालयितुं न शक्येत, तथा प्रेमविशेषेण भगवच्चरणाब्ज-निबद्धात्मनामापत्स्वपि कथञ्चित् निजसाध्यसाधनतः स्खलनं न स्यादिति । त्वथेत्यस्य बद्धसौहृदा इत्यनेनेन वा सम्बन्धः । तेनानिर्व्वचनीय-प्रकारेणेत्यर्थः, अतएव विनायका विघ्नहेतवस्तेषामनीकानि स्तोमाः सैन्यानि वा तानि पान्ति, ये तन्मुख्यास्तेषां मूर्द्धसु विचरन्ति, विघ्नान् जयन्तीत्यर्थः । यतस्त्वया अभितो गुप्ता रक्षिताः, अतएव निर्भयाः कुतश्चिदपि शङ्कारहिताः सन्तः, अत्र च मूर्द्धसु विचरन्तीत्यनेनैवं सूच्यते—अत्युच्चपदारोहणार्थं यथा निःश्रेणिकापेक्ष्यते, तथा भागवतानां भगवत्पदारोहणार्थं विघ्ना एव निःश्रेणिका भवेयुः,विघ्नेषु जातेषु भगवत्स्मरणादभिनिवेश-विशेषोत्पत्तेः। विघ्नजये च भगवद्वात्सल्यविशेषानुसन्धानादिना भक्तिविशेषसम्पत्तेश्चेति दिक् । तावका मार्गान्न भ्रश्यन्ति, त्वयि बद्धसौहृदास्तु त्वयाभिगुप्ता मूर्द्धसु विचरन्तीति वाक्यद्वयम् । अस्माकमुपरि विचरन्ति, हे विनायकानीकप गरुड़स्तोमपते ! अन्यत् समानम् ॥२०१

गोपिकासुतोऽयं भगवान् श्रीदामोदरो देहिनां देहाभिमानिनां तापसादीनां ज्ञानिनाञ्च निवृत्ताभिमानिनाम्, अतएव आत्मभूतानां स्वरूपं प्राप्तानामात्मारामाणामित्यर्थः । अतएव न सुखापः न सुलभः; यद्वा, भक्तिमतां विशेषणमात्मभूतानामिति; आत्मस्वरूपाणां भगवतः परमप्रियतमानामित्यर्थः, अतएव सुखापः ॥२०२॥

किया है, उन सब महात्मा साधु पुरुष के पक्ष में दुष्कर अथवा दुस्त्यज क्या है ? जिनका नाम श्रवण से ही पुरुष निर्मल होता है, उन तीर्थपाद प्रभु के दासों के पक्ष कौन कार्य्य अवशिष्ट हैं ? ॥१९९-२००॥

दशमस्कन्धस्थ देवस्तुति में वर्णित है—ब्रह्मादि देवगण ने कहा है, हे माधव ! जो तुम्हारे भक्त हैं, आपके सहित दृढ़ सौहार्द बद्ध हैं, वे वैसी दुर्गति को प्राप्त नहीं करते, वे सब आपके द्वारा रक्षित होकर निर्भय अन्तःकरण से विघ्नकारियों के मस्तक में विचरण करते रहते हैं, साधन-मार्ग से स्खलित नहीं होते हैं, प्रत्युत विघ्नकारिगण के अधिपतियों के मस्तकों को सोपान कर श्रीवैकुण्ठ में आरोहण करते हैं ॥२०१॥

दशमस्कन्ध में श्रीशुकदेव का वाक्य यह है—हे राजन् ! गोपिकासुत भगवान्, भक्तिमान् पुरुषों के पक्ष में जिस प्रकार सुखलभ्य हैं, देहाभिमानी तापसादि का एवं निवृत्ताभिमान आत्मभूत ज्ञानिवृन्द का उस प्रकार सुलभ नहीं है ॥२०२॥

तत्रैवश्रीभगवतः (श्रीभा १०।१०।४१)—

साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।
दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥२०३॥

किञ्च, (श्रीभा १०।८४।११)—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः । ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥२०४॥

अपिच (श्रीभा १०।८४।१२-१३)—

नाग्निर्न सूर्य्यो न च चन्द्रतारका, न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः ।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं, विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्त्तसेवया ॥२०५॥
यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि,-ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥२०६॥

साधूनां स्वधर्म्मवर्त्तिनां समचित्तानामात्मविदां, सुतरां मत्कृतात्मनाम् एषां कृपातिरेकात् सुतरामित्युक्तम् । यद्वा, साधूनामेव विशेषणद्वयं समचित्तानामिति मत्कृतात्मनामिति च। दर्शनादपि पुंसः सर्व्वस्यैव पुंमात्रस्य संसारबन्धः सुतरां न भवेत्, स्वयमेव समूलं विनश्यतीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः—सवितुर्दर्शनादक्ष्णोर्यथा तमो बन्धो न भवेदिति ॥२०३॥

तीर्थेभ्यो देवेभ्योऽपि साधव एव श्रेष्ठा इत्याह—न हीति । अम्मयानि तीर्थानि मृण्मयाः शिलामयाश्च देवा न भवन्तीति न, अपि तु भवन्त्येव । तथापि साधूनां तेषां च महदन्तरमित्याह—ते पुनन्तीति । अतः साधव एव महातीर्था न परमदेवताश्च, अतएव नित्यं सेव्या इति भावः । तदुक्तं तत्रैव (श्रीभा १०।४८।३०) —'भवद्विधा महाभागाः संनिषेव्या अर्हत्तमाः । श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः ।।' इति ॥२०३

वाङ्मनसयोरप्युपासनाविषयत्वं, 'यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते,' 'यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते' (श्रीछा ७।२।२, ७।३।२) श्रुतेः । इति अघं पापं तन्मूलमज्ञानं वा न हरन्ति; कुतः ? भेदकृतः भेदकर्त्तारः । यद्वा, भगवता सह विच्छेदकारकाः । पृथक् पृथक् तत्तदुपासनेन भगवत्परताहान्यापादनात् । विपश्चितः भगवद्भक्तास्तु यदेकपरतापादकाः; यद्वा, विपश्चितः, अद्वैतदर्शिनोऽपि भेदकृतः, 'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्' इत्याद्युक्त-भेदाभेदन्यायेन जीवतत्त्वाद्भगवत्तत्त्वस्य भेदकर्त्तारो वैष्णवसिद्धान्ततत्त्वाभिज्ञाः परमभागवता ये इत्यर्थः, ते मुहूर्त्तमात्रसेवयैवाघं घ्नन्तीति ॥२०५॥

अतः साधव एवात्मादिरूपाः, तांस्तु विहायान्यत्रात्मादिबुद्ध्या सज्जन्नतिमन्द एवेत्याह—यस्येति । त्रयो धातवो वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतयो यस्य तस्मिन् कुणपे मृततुल्ये शरीरे आत्मबुद्धिः, अहमिति बुद्धिः, कलत्रादिषु स्वधीः स्वीया इति बुद्धिः, भौमे भूविकारे मृण्मयप्रतिमादौ इज्यधीः देवताबुद्धिः, सलिल एव यत्

दशमस्कन्ध में श्रीभगवान् कहते हैं—स्वधर्मशील, समदर्शी एवं मुझमें समर्पित चित्त व्यक्तियों का सन्दर्शन से संसार बन्धन नहीं रहता है, जिस प्रकार सूर्य्यदर्शन से चक्षु का अन्धकार बन्धन नहीं रहता है, उस प्रकार जानना होगा ॥२०३॥

और भी वर्णित है—जलमय स्थान को तीर्थ नहीं कहा जाता है, एवं मृण्मयी अथवा शिलामयी प्रतिमा होने से ही देवता में नहीं गिनी जाती है, कारण, वे सब अनेक काल के पश्चात् मनुष्य को पवित्र करते हैं, इस प्रकार साधुओं से तीर्थ एवं देवता का महद् भेद है ॥२०४॥

और भी लिखित है—'अग्नि, सूर्य्य, चन्द्र, तारका, पृथिवी, जल, आकाश, वायु, वाक्य एवं मनः' इत्यादि का भजन करने से पापमूलक अज्ञान विनष्ट नहीं होता है, किन्तु मुहूर्त्तमात्र साधु सेवा से सकल

श्रुतिस्तुतौ (श्रीभा १०।८७।२७)—

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया, त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां,-स्त्वयि कृतसौहृदा, खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥२०७

यस्य तीर्थबुद्धिः, अभिज्ञेषु तत्त्ववित्सु कदाचिदपि आत्मादिबुद्धयो यस्य न सन्ति, स एव गोष्वपि खरः दारुणः अत्यविवेकीत्यर्थः। यद्वा, गवां तृणादिभारवाहकः खरो गर्द्दभः, एवं साधव एवात्मादिरूपा इति तेषां माहात्म्योक्तिः ॥२०६॥

तवेति कर्म्मणि षष्ठी; त्वां ये परिचरन्ति, छन्दसि व्यवहिताश्चेति यच्छब्देन व्यवधानमदोषः। केन रूपेण ? अखिलसत्त्वनिकेततया अखिलानि सत्त्वानि निकेतो यस्य सः, तथा तस्य भावस्तत्ता तया सर्व्वभूतावासतयेत्यर्थः, अतएव अविगणय्य तिरस्कृत्य त एव निर्ऋतेर्मृत्योः शिरः मूर्द्धानं पदा पदेनाक्रामन्ति मृत्योर्मूर्द्ध्नि पदं दधति, तं तरन्ति मुच्यन्त इत्यर्थः। ये पुनर्विमुखा अभक्तास्तान् गिरा वेदलक्षणया वाचा पशूनिव विबुधान् विदुषोऽपि परिवयसे बध्नासि। कुतः ? त्वयि कृतसौहृदाः—कृत सौहृदं प्रेत यैस्ते; खलु निश्चितं, पुनन्ति पवित्रयन्ति, आत्मानमन्यानपीति शेषः, नेतरे; तथा च श्रुतिः—'तस्य वाक्तन्त्रिर्नामानि दामानि, तदस्येदं वाचा तन्त्र्या नामभिर्दामभिः सर्व्वं सितम्' इति; यद्वा, येऽखिलसत्त्वनिकेततया परिचरन्ति, ते मृत्योः शिरः पदाक्रामन्ति, अविवेकिनस्तु बध्नन्ति, बद्धसौहृदास्तु जगदेव मोचयन्तीत्यर्थः। अन्यत् समानम्; यद्वा, अविगणय्य स्वधर्म्मादिकमनादृत्य उत अपि। अखिलसत्त्वनिकेततया, किम्भूत प्रेम्णा ये परिचरन्ति भजन्ते, यद्वा, अखिलसत्त्वेषु अन्तर्यामितया भगवद्दृष्ट्या परिचर्य्यामात्रमपि कुर्व्वन्ति, किं पुनः साक्षाद्भूतभगवतीव त्वदीय-श्रीमूर्त्तौ प्रेम्णा, ये सर्व्वथा भजन्ति तेऽपि संसारान्मुच्यन्ते, न च केवलमेतावदेव, त्वत्परमप्रसादपात्रतामपि यान्तीत्याहुः। विबुधान् सर्व्वज्ञानपि तान् परिचारकान् गिरा 'अहं भक्तपराधीनः' इत्यादिवचनेन पशून् विवेकहीनानिव परिवयसे वशीकरोषि। त्वद्भक्तिमाहात्म्य-श्रवणेन तद्रसेन किमप्यननुसन्धानान् सहसा प्रेमाब्धौ पातयसीत्यर्थः। तथा चोक्तं श्रीभगवद्गीताविभिः (श्रीभा १०।३१।८)—'मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया' इत्यादि। एवं त्वयि कृतसौहृदास्तु, खल्विति समुच्चये, ये त्वयि न विमुखाः, तत्त्वज्ञाने जातेऽपि भक्तत्यागिनस्तेऽपि पुनन्ति, जगदपि संसारान्मोचयन्तीत्यर्थः यद्वा, त्वयि ये विमुखाः, शुष्कज्ञाननिष्ठया भक्तित्यागेन वैमुख्यं गतास्तांस्तु न पुनन्ति, भगवद्वैमुख्य-महापापफलभोगेन तेषामन्येषाञ्च शिक्षणार्थं भक्तिमाहात्म्य-प्रदर्शनार्थञ्च; यद्वा, ये विमुखास्तान्न पुनन्ति, किं काक्वा, अपि तु पुनन्त्येव, अग्न्यादेरुष्णतादिवत्तेषां प्रकृत्या पावनत्वादिति; अन्यत् समानम् ॥२०७॥

अज्ञान विनष्ट होते हैं, साधुवृन्द को परित्याग पूर्वक आत्मादि बुद्धि द्वारा अन्यत्र आसक्त होने पर मन्दपुरुषों में परिगणित होना पड़ता है। कारण, वात, पित्त श्लेष्मात्मक शरीर में आत्मज्ञान, कलत्र पुत्रादि में आत्मीयज्ञान, मृद्विकार में देवज्ञान एवं जल में तीर्थ बोध एवं साधु पुरुषों में साधु ज्ञान न होने पर, उसको भी तृणवाही गर्दभ स्वरूप जानना होगा। यह श्लोक, साधुजन की महिमा कीर्त्तन में उद्धृत हुआ है, किन्तु प्रतिमा में देवता बुद्धि एवं गङ्गादि जलादि में तीर्थबुद्धि रूप निन्दा में तात्पर्य्य नहीं है ।।२०५-२०६।।

दशमस्कन्ध की श्रुति स्तुति में वर्णित है—जो लोक जगदाधार रूप आपकी आराधना करते हैं, वे सब अनादर के सहित मृत्यु के मस्तक में पदाघात करने में सक्षम होते हैं और जो लोक आपकी आराधना में विमुख हैं, वे सब पण्डित होने पर भी रज्जु के द्वारा पशु बन्धन के समान वाक्यों से आबद्ध होते हैं, मुक्त होने में सक्षम नहीं हैं। कारण, आपके सहित कृत सौहार्द्द साधुगण निज को एवं अन्य को पवित्र करते हैं, किन्तु अभक्तजनगण अपने को एवं अपर को पवित्र करने में असमर्थ हैं ।।२०७।।

एकादशे श्रीवसुदेवस्य (२।५-६)—

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च । सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥२०८

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान् ।

छायेव कर्म्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥२०९॥

तत्रैव श्रीभगवतः (श्रीभा ११।२०।३६)—

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः । साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥२१०॥

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् । शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥२११॥

देवैरपि महतामुपमानमनुचितमित्याह— भूतानामिति । देवानां चरितमतिवृष्ट्यादिना भूतानां दुःखायापि भवति । त्वया सदृशानामपि, अतः अच्युते आत्मा मनोमात्रं, न तु सर्व्वेन्द्रियवृत्तिर्येषां तेषामपि ॥२०८॥

किञ्च, सुखं कुर्व्वन्तोऽपि देवा भजनानुसारेणैव कुर्व्वन्ति, न तथा साधवः इत्याह— भजन्तीति । छायेव यथा पुरुषो यावत् करोति, तावदेव तस्य छायापि, तथा कर्म्मसचिवाः कर्म्मसहाया दीनाः सत्कर्म्मादि-राहित्येन सदार्त्तास्तेषु वत्सलाः ॥२०९॥

भक्तिनिष्ठानान्तु न गुणदोषा इत्याह—मयीति; मयि ये एकान्तभक्ताः, कर्म्मज्ञानाद्यशेषनैरपेक्ष्येण भक्ति-निष्ठां प्राप्तास्तेषां गुणदोषैर्विहितप्रतिसिद्धैरुद्भवा येषां ते गुणाः पुण्यपापादयः । साधूनां निरस्तरागादीनाम्, अतः समचित्तानाम्, तत एव बुद्धेः परमीश्वरं मां प्राप्तानाम्; यद्वा, गुणाः सत्कर्म्माचरणादयस्तदुद्भवा ये गुणाः सत्त्वशुद्ध्यादयः, दोषाः सत्कर्म्मत्यागादयस्तदुद्भवाश्च ये गुणा ज्ञाननिष्ठादयः । ज्ञाननिष्ठार्थं श्रीभगवत्-पादादिभिर्ज्ञानकर्म्मसमुच्चयदोषदर्शनेन कर्म्मत्यागोपपादनात् ते न सन्ति, किं वा ? अपि तु सन्त्येव, एकान्तभक्तत्वेन पूर्व्वमेव स्वतः सर्व्वगुणसिद्धेः; तदुक्तम्—(श्रीभा ५।१८।१२)—'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्य-किञ्चना' इत्यादि; तदेवाभिव्यञ्जन् विशिनष्टि- साधूनामित्यादि; यद्वा, गुणदोषोद्भवा येऽर्थाः सत्त्वशुद्ध्यादयः ज्ञाननिष्ठादयश्च, ते तेषां गुणा उपकारका महिमानो वा न भवन्ति, किं दोषा एवेत्यर्थः । एकान्तभक्ततायाः साधनत्वेन पूर्व्वमेव तद्गुणानां सिद्धेरधुना पुनःसाधनप्रवृत्त्या भक्तिनिष्ठाहान्यापत्तेः; यद्वा, गुणा बहुलोपचार-समर्पणादयस्तदुद्भवा ये गुणाः साधनविशेषाः; दोषाश्च पूजाविध्यतिक्रमादयस्तदुद्भवगुणा द्वात्रिंशदादयः, ते मयि न भवन्ति, तेषामाराधनविशेषाश्च मया नापेक्ष्यन्ते, न चापराधा गृह्यन्त इत्यर्थः । अन्यत् सर्व्वत्र समानम् । अलमतिविस्तरेण ॥२१०॥

अस्तु तावत् साधूनां माहात्म्यं, तदाश्रितानामपि माहात्म्यमनिर्व्वचनीयमिति लिखति—यथेति । विभावसुमग्निम् उपश्रयमाणस्य समीपे गत्वा सेवमानस्य; अप्येति नश्यति, तथा कर्म्मादिजाड्यमागामि-संसारभय, तन्मूलमज्ञानञ्च नश्यतीत्यर्थः । साधून् संसेवतः श्रद्धया किञ्चिद्द्रव्यप्रदानादिना दूरतोऽपि सेवमानस्य ॥२११॥

एकादशस्कन्ध में श्रीवसुदेव ने कहा है—देवगण को भी महत् मानव का सम्मान करना कर्त्तव्य है, कारण, देवचरित, लोकों में सुख एवं दुःख के निमित्त होता है, अर्थात् अतिवृष्टि अनावृष्टि से दुःखद होता है एवं सुवृष्टि प्रभृति से सुखद होता है । किन्तु भवत् सदृश अच्युतात्मा साधुवृन्द का आचरण, केवल सुख के निमित्त ही होता है । जो व्यक्ति, जिस भाव से देवता की उपासना करते हैं, छाया के समान देवगण भी कर्मानुसार उनको तदनुरूप फल प्रदान करते हैं, किन्तु साधुगण, उस प्रकार नहीं होते हैं, अर्थात् सत्कर्म सुखापेक्षी नहीं हैं, वे सब दीनवत्सल हैं ॥२०८-२०९॥

एकादशस्कन्ध में श्रीभगवान् ने कहा है—हे उद्धव ! जिन्होंने प्रकृत्यतीत परमपुरुष को प्राप्त किया है, उन एकान्तभक्त, समचित्त, साधुगण के सम्बन्ध में विधिनिषेधक पाप पुण्यादि की सम्भावना नहीं है ॥२१०

और भी लिखित है—भगवान् विभावसु के समीप में आश्रय ग्रहण करने से जिस प्रकार शीत, भय,

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायणम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढ़ेवाप्सु मज्जताम् ॥२१२॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राणा आर्त्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्म्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग्बिभ्यतोऽरणम् ॥२१३॥
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि वहिरर्कः समुत्थितः । देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च ॥२१४

किञ्च, (श्रीभा ११।२०।३४)—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥२१५॥

द्वादशे च श्रीपरीक्षितः (६।३)—

न ह्यद्भुतमिदं मन्ये महतामच्युतात्मनाम् । अज्ञेषु तापतप्तेषु भूतेषु यदनुग्रहः ॥२१६॥

निमज्ज्योन्मज्जतामुच्चावचयोनीर्गच्छताम्; यद्वा, भवाब्धौ निमज्ज्य पश्चात् उन्मज्जतां सन्तारयताम्; परमायणं परमाश्रयः, ब्रह्मविद इति—आत्मतत्त्वमात्रोपदेशेन भवाब्धितारणसिद्धेः; यद्वा, वेदार्थवेदिनः 'शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्' (श्रीभा ११।३।२१) इति गुरुलक्षणोक्तेः ॥२१२॥

किञ्च, यथान्नमेव प्राणिनां प्राणा जीवनम्, अहमेव यथा शरणम्, धर्म्म एव यथा प्रेत्य परलोके वित्तम्, तथा सन्त एव अर्व्वाक् सर्व्वान्ते संसारपतनाद्बिभ्यतः पुंसः अरणं शरणम्; यद्वा, यतः कुतश्चिद्बिभ्यतो जनस्य अर्व्वाक् नूतनं जीर्णत्वादिदोषहीनं शरणम् ॥२१३॥

किञ्च, चक्षूंषि सगुणनिर्गुणज्ञानानि, अर्कः पुनः सम्यगुत्थितोऽपि वहिः तदप्येकमेव चक्षुरित्यर्थः । अतः सतां सेवयैव कृतार्थता स्यात्, इत्याह—देवता इति ॥२१४॥

धीरा धीमन्तः, यतः मम एकान्तिनः मय्येव प्रीतियुक्ताः; यद्वा, भक्त्येकनिष्ठायुक्ताः, अतो मया दत्तमपि न गृह्णन्ति, किं पुनर्वक्तव्यं न वाञ्छन्तीत्यर्थः; यद्वा, वाञ्छन्त्यपि किं पुनर्वक्तव्यं, न गृह्णन्तीति—कैवल्यमात्यन्तिकमपि, अपुनर्भवं मोक्षम् ॥२१५॥

अज्ञेषु भगवद्भजनादिमहिमानभिज्ञेषु, अतएव तापैस्तप्तेषु भूतेषु प्राणिमात्रेषु अनुग्रह इति यत्, इदमद्भुतघटमानं न मन्ये; यतः अच्युतस्यैव आत्मा स्वभावः दीनानामेव शरणत्वादिरूपो येषामिति ॥२१६॥

अन्धकार विदूरित होता है, उस प्रकार श्रद्धापूर्वक साधुवृन्द की सेवा करने से सकल पातक विनष्ट होते हैं।

जलमग्न मानव के पक्ष में नौका जिस प्रकार एक मात्र गति है, उस प्रकार घोर संसारार्णव में निमग्न जनगण के पक्ष में शान्त, ब्रह्मज्ञ साधुगण ही परमागति हैं ॥२११-२१२॥

यद्रूप अन्न, प्राणियों का प्राण है, मैं आर्त्तजनगण का आश्रय हूँ, धर्म, मनुषवृन्द का पारलौकिक धन है, तद्रूप साधुगण, संसार भयभीत मानवों के पक्ष में सर्वश्रेष्ठ शरण्य हैं ॥२१३॥

बहिर्भाग में समुदित सूर्य्य, केवल वहिर्दृष्टियुक्त नेत्र प्रदान करते हैं। किन्तु साधुगण, प्रत्यक्ष उदित होकर सगुण निर्गुण ज्ञानरूप नेत्रद्वय का उपदेश प्रदान करते हैं। अतः वे ही देवता, बान्धव एवं आत्मस्वरूप मत् सदृश हैं ॥२१४॥

उक्त स्कन्ध में और भी लिखित है—एकान्तभक्त धीर साधुवृन्द, अन्य वस्तु की बात तो दूर है, मद्दत्त आत्यन्तिक मुक्ति अथवा पुनर्जन्मराहित्य की वाञ्छा भी नहीं करते हैं ॥२१५॥

श्रीमद्भागवत के द्वादशस्कन्ध में श्रीपरीक्षित का कथन है—ताप सन्तप्त अज्ञजन के प्रति अच्युतात्मा महाजन की इस प्रकार अनुकम्पा होती है, यह आश्चर्य्यकर नहीं है ॥२१६॥

श्रीरुद्रस्य च मार्कण्डेयमधिकृत्य (१२।१०।२५)—

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि महापातकिनोऽपि वः। शुध्येरन्नन्त्यजाश्चापि किमु सम्भाषणादिभिः ॥२१७

अतएव श्रीधर्म्मराजस्य स्वदूतानुशासने षष्ठस्कन्धे (३।२७)—

ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा, ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः।

तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्, नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥२१८॥

तथा श्रीविष्णुपुराणे—

यमनियमविधूतकल्मषाणा,-मनुदिनमच्युतसक्तमानसानाम्।

अपगतमदमान-मत्सराणां, व्रज भट दूरतरेण मानवानाम् ॥२१९॥

अस्तु तावत् महतां सङ्गसेवादिकं, नामश्रवणादिनापि महादुष्टा अपि मुक्ता भवन्तीति श्रीमार्कण्डेय-विषयक-श्रीशिववचनं लिखति—श्रवणादि ति। वः भगवद्भक्तानां युष्माकं, महापातकिनः महापापकर्म्मरताः, अन्त्यजाश्च महापापजातयः, शुध्येरन् तत्तत्पापतः संसारमहामलाद्वा विमुक्ता भवन्ति। आदि-शब्देन प्रणामादिः ॥२१७॥

एवं सर्व्वशास्त्रसाराखिलवेदफलरूप-श्रीभागवते प्रतिस्कन्धमेव भगवद्भक्तानां माहात्म्यं विभातीति स्कन्धक्रमेण लिखित्वा इदानीं पूर्व्ववत साक्षात् माहात्म्याभावेऽपि केषाञ्चिद्वचनानां तात्पर्य्येण विशेषतो माहात्म्य एव पर्य्यवसानात् तानि पृथग्लिखति—ते देवेत्यादिना नमो नम इत्यन्तेन। ये भगवन्तं प्रपन्ना यथा कथञ्चिदप्याश्रिताः, अतएव साधवः सुशीलाः समदृशश्च, ते देवैः सिद्धैश्च श्रीसनकादिभिः परिगीत-पवित्रगाथाः अनुवर्णितपवित्रकथाः। अतस्तान्नोपसीदत तत्समीपमपि नोपगच्छत तत्प्रतिवेशिनोऽपि परित्यजतेत्यर्थः। किञ्च, गदया कौमोदक्याऽभितो गुप्तान्; ततस्तत्समीपगताः सन्तस्तया हनिष्यध्वे इति भावः। तेषां कथञ्चित् पापे जातेऽपि न कोऽपि किञ्चित् कर्त्तुं शक्नुयात्, भगवत्प्रपन्नत्वेनैव सर्व्वपाप-क्षयापत्तेरित्याह—नैषामिति। वयमिति निजभृत्याद्यपेक्षया बहुत्वम्। वयः कालोऽपि सर्व्वनियन्ता न प्रभवति ॥२१८॥

अच्युतासक्तमानसानां भगवत्स्मरणपराणां, यद्वा, अच्युतासक्ता भगवदनुरक्तास्तेषु मानसमपि येषां तेषामपि यम-नियम-विधूत-कल्मषाणामिति—अपगत-मद-मान-मत्सराणामिति च, विशेषणद्वयम् अच्युता-सक्तमानसानां स्वभावः साधनं वा पूर्व्ववत् ज्ञेयम्। दूरतरेण व्रजेति तन्निकटवर्त्तिनामपि निकटं न गच्छेति पूर्व्ववदर्थः; एवमग्रेऽपि ॥११९॥

उक्त स्कन्ध में मार्कण्डेय के प्रति श्रीरुद्रोक्ति यह है—अन्त्यज महापापीगण भी तुम्हारा दर्शन प्राप्त कर एवं तुम्हारे नामादि श्रवण कर पवित्र होते हैं, सुतरां तुम्हारे सहित कथोपकथन से जो लाभ होता है, उसका वर्णन और क्या करूँ ? ॥२१७॥

अतएव षष्ठस्कन्ध के श्रीधर्मराज के दूतानुशासन में वर्णित है—श्रीयमराज ने कहा-हे दूतगण ! अद्यावधि तुम सब मेरा यह सब अनुशासन वाक्य को सुनकर मन में धारण करो। जो सब साधुपुरुषवृन्द भगवत् शरणागत हैं, सर्वत्र समदर्शी हैं, सिद्धगण जिनके पवित्र चरित्र गान करते हैं, तुम सब कभी भी उन सब पुरुषों के निकट न जाना। भगवान् की गदा सर्वतोभावेन उन सबकी रक्षा करती है, उनका शासन करने में हमारी सामर्थ्य नहीं है, और काल की सामर्थ्य भी नहीं है ॥२१८॥

विष्णुपुराण में तद्रूप कथित है—हे दूत ! यम-नियम के द्वारा जिनकी पापराशि विधूत हो गई है, जो अप्रमत्त, अमानी, निर्मत्सर एवं भगवदासक्त मनाः हैं, उन सब वैष्णववृन्द के निकट से तुम सब दूर में रहना ॥२१९॥

सकलमिदमहञ्च वासुदेवः, परमपुमान् परमेश्वरः स एकः ।
इति मतिरमला भवत्यनन्ते, हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात् ॥२२०॥
कमलनयन वासुदेव विष्णो, धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ।
भव शरणमितीरयन्ति ये वै, त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ॥२२१॥
वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा, पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपाते ।
तव गतिरथवा ममास्ति चक्र,-प्रतिहतवीर्य्यबलस्य सोऽन्यलोक्यः ॥२२२॥

नारसिंहे, विष्णुपुराणे च—

अहममरगणार्च्चितेन धात्रा, यम इति लोकहिताहिते नियुक्तः ।
हरिगुरुविमुखान् प्रशास्मि मर्त्यान्, हरिचरणप्रणतान्नमस्करोमि ॥२२३॥

तथैव ज्ञानभक्तानामपि तन्निकटवर्त्तिनामपि निकटं न गच्छेत्याह—सकलमिति । इदं जगत् सकलं वासुदेव एव, वासुदेवाद्भिन्नं न भवति, अहञ्च वासुदेवाद् भिन्नो न भवामि, तदंशत्वाज्जीवानां स चास्मत्तो न भिन्नः, सर्व्वनियन्तृत्वादिनेति भेदाभेदन्यायेनाह । सः वासुदेवः एवैकः परमेश्वरः, यतः परमपुमान् प्रकृत्यधिष्ठातुः पुरुषादपि परमः परब्रह्मात्मकत्वात् । अतो वयं सेवकाः, स च परमसेव्य इति भावः । शुद्धभक्तिमद्भ्यो ज्ञानभक्तानां न्यूनत्वाद्दूरादित्युक्तं, तत्र च दूरतरेणेति ॥२२०॥

पापकारिणामपि भगवत्कीर्त्तनकृतान् तयेत्याह—कमलनयनेति, ईरयन्ति उच्चारयन्ति, अपापानिति कथञ्चित् पापे जातेऽप्यपापानेवेत्यर्थः ॥२२१॥

दूरतरेण व्रजेत्यादि यदुक्तं, तत्र हेतुमाह—वसतीति । तस्य दृष्टिपातं यावद्विष्णोश्चक्रं प्ररिभ्रमति, अतस्तच्चक्रात् प्रतिहतं वीर्य्यं बलञ्च यस्य तथाभूतस्य तव वा मम वा तावति देशे पापिष्ठं जनमानेतुमपि गतिर्नास्ति । स पुनरन्यलोक्यः वैकुण्ठलोकार्हः न त्वस्मल्लोकार्ह इति ॥२२२॥

यमयति नियमयतीति यमो नियन्तेति लोकानां हिते निमित्ते पुण्यफलस्वर्गादि दानार्थम्, अहिते च निमित्ते पापफल-नरकादिदानार्थं नियुक्तोऽपि सन्, हरिरेव गुरुस्तद्विमुखान् अभक्तानेव प्रशास्मि, प्रकर्षेण दण्डं करोमि ॥२२३॥

हे दूत ! निखिल जगत् वासुदेव से भिन्न नहीं है एवं मैं भी वासुदेव से भिन्न नहीं हूँ । वासुदेव ही एक मात्र परम पुरुष परमेश्वर हैं, इस प्रकार जिनकी निर्म्मल बुद्धि होती है, उनको छोड़कर दूर में ही रहना ।

हे दूत ! जो मानव, 'हे पद्मपलाशलोचन ! हे वासुदेव ! हे विष्णवे ! हे पृथ्वीधर ! हे अच्युत ! हे शङ्ख-चक्रहस्त ! तुम मेरी शरण हों, इस प्रकार कीर्त्तन करते हैं, तुम उन सब अकलुषजन को परित्याग कर अति दूर में रहना ॥२२०-२२१॥

अव्ययात्मा परम पुरुष जिनके हृदय में निवास करते हैं, उनकी दृष्टि जहाँ तक जाती है, वहाँ तक सुदर्शन-चक्र भ्रमण करता है, उस चक्र के द्वारा प्रतिहत बलवीर्य्य तुम सब हो एवं मैं भी हूँ, अतएव वहाँ तक जाने की सामर्थ्य तुम सबकी अथवा मेरी नहीं है । वे अन्य मानव, वैकुण्ठलोक में जाने के उपयुक्त पात्र हैं ॥२२२॥

नृसिहपुराण में एवं विष्णुपुराण में लिखित है—सर्व-लोक-वन्द्य विधाता ने सर्व-लोकहित के निमित्त अर्थात् पुण्य फल स्वरूप स्वर्गादि प्रदान के निमित्त, अहितार्थ-पापफल नरकादि प्रदान के निमित्त, मुझको यम पद में प्रतिष्ठित किया है । अतएव मैं गुरु रूप श्रीहरि के चरणकमलों से विमुख मनुष्यों पर शासन करता हूँ और हरि चरणों में प्रणत पुरुषों को नमस्कार करता हूँ ॥२२३॥

सुगतिमभिलषामि वासुदेवा,-दहमपि भागवतस्थितान्तरात्मा ।
मधुवर वशगोऽस्मि न स्वतन्त्रः, प्रभवति संयमने ममापि कृष्णः ॥२२४॥
न हि शशकलुषच्छविः कदाचि,-त्तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्रः ।
भगवति च हरावनन्यचेता, भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः ॥२२५॥

पाद्मे देवदूत-विकुण्डल-संवादे—

प्राहास्मान् यमुनाभ्राता सादरं हि पुनः पुनः ।
भवद्भिर्वैष्णवास्त्याज्या न ते स्युर्मम गोचराः ॥२२६॥
दुराचारो दुष्कुलोऽपि सदा पापरतोऽपि वा ।
भवद्भिर्वैष्णवस्त्याज्यो विष्णुञ्चेद्भजते नरः ॥२२७॥
वैष्णवो यद्गृहे भुङ्क्ते येषां वैष्णवसङ्गतिः ।
तेऽपि वः परिहार्य्याः स्युस्तत्सङ्गहतकिल्विषाः ॥२२८॥

सुगतिं मुक्तिं श्रीवैकुण्ठलोकप्राप्तिं वा, भागवतेषु भगवद्भक्तेषु स्थितः, स्थिरतां प्राप्तः अन्तरात्मा मनो यस्य तथाभूतः सन्, तेषु कदाचित् पापेऽपि जाते ममैश्वर्य्यं नास्तीत्याह—मधुवरेति । श्रीकृष्णाधीन एवाहं, न स्वतन्त्रोऽस्मि ॥२२४॥

तेषां कथञ्चित् जातेऽपि पापे न कोऽपि दोषः स्यात्, प्रत्युत भगवद्विश्वासविशेषेण शोभैव स्यादित्याह—न हीति । शशरूपं कलुषं कलङ्कः, तस्य छविश्छाया वा यस्मिन् सोऽपि यथा तया तस्य शोभाविशेष एव स्यात्, तथेत्यर्थः ॥२२५॥

मम गोचराः मदधिकारविषयाः ॥२२६॥

तेऽपि दुराचारादयोऽपि स्युस्तथापि ते परिहार्य्या दूरतस्त्याज्या इत्यर्थः; यतस्तेषां वैष्णवानां सङ्गेन हतं किल्विषं येषां ते ॥२२८॥

मैं श्रीहरिभक्त के प्रति अपना चित्त निश्चलरूप से सन्निवेशित करके भी श्रीहरि के समीप में वैकुण्ठ-लाभ की वासना करता हूँ। कदाचित् वैष्णव कभी किसी पाप का अनुष्ठान करे तो भी उस विषय में मैं प्रभु नहीं हूँ, क्योंकि मैं स्वाधीन नहीं हूँ किन्तु वासुदेव के अधीन हूँ। श्रीहरि, शासन विषय में मेरे भी प्रभु हैं ॥२२४॥

मृगलाञ्छनधारी चन्द्र जिस प्रकार कभी भी अन्धकार के निकट पराभव को प्राप्त नहीं करता, उस प्रकार भगवान् श्रीहरि में एकान्त-चित्त मनुष्य अतिशय मलिन होने पर भी शोभा प्राप्त करते हैं, अर्थात् भगवद्भक्तगण कथञ्चित पापाचरण करने पर भी दूषणीय नहीं होते हैं ॥२२५॥

पद्मपुराण के देवहूति-विकुण्डल-संवाद में वर्णित है—यमुनाभ्राता यम आदरपूर्वक पुनः पुनः हम सबको कहे हैं—तुम सब वैष्णववृन्द को परित्याग करना, वे सब हमारे अधिकार में नहीं आ सकते हैं। दुराचारी, दुष्कुल जात, एवं सर्वदा पापाचारी होने पर भी विष्णु-भजनकारी मनुष्य, वैष्णव नाम से परिगणित होते हैं। तुम सब उनको परित्याग करना। जिनके आलय में वैष्णव भोजन करते हैं एवं जो मानव वैष्णव के सहित अवस्थान करते हैं, वे सब वैष्णवसङ्ग हेतु निष्कलुष होते हैं, सुतरां तुम सब उन सबको परित्याग करना ॥२२६-२२८॥

स्कान्दे अमृतसारोद्धारे—

एकादश्यामभुञ्जाना युक्ताः पापशतैरपि । भवद्भिः परिहर्त्तव्या हिता मे यदि सर्व्वदा ॥२२९

ये स्मरन्ति जगन्नाथं मृत्युकाले जनार्द्दनम् । पापकोटिशतैर्युक्ता न ते ग्राह्या ममाज्ञया ॥२३०॥

न ब्रह्मा न शिवाग्नीन्द्रा नाहं नान्ये दिवौकसः ।
शक्ता न निग्रहं कर्त्तुं वैष्णवानां महात्मनाम् ॥२३१॥

अतोऽहं सर्व्वकालञ्च वैष्णवानां बिभेमि वै । भवद्भिः परिहर्त्तव्या वैष्णवा ये सदैव हि ॥२३२

वैष्णवा विष्णुवत् पूज्या मम मान्या विशेषतः ।
तेषां कृतेऽपमानेऽपि विनाशो जायते ध्रुवम् ॥२३३॥

किञ्च—

येषां स्मरणमात्रेण पापलक्षशतानि च । दह्यन्ते नात्र सन्देहो वैष्णवानां महात्मनाम् ॥२३४॥

येषां पादरजेनैव प्राप्यते जाह्नवीजलम् । नार्म्मदं यामुनञ्चैव किं पुनः पादयोर्जलम् ॥२३५॥

येषां वाक्यजलौघेन विना गङ्गाजलैरपि । विना तीर्थसहस्रेण स्नातो भवति मानवः ॥२३६॥

किञ्च—

ब्रह्मलोके न मे वासो न मे वासो हरालये । नालये लोकपालानां वैष्णवानां पराभवे ॥२३७॥

ममाज्ञयेति—अन्यथा मदाज्ञाभङ्गे मयैव भवन्तो दण्डयितव्या इत्यर्थः; यद्वा, ममाज्ञयापि कदाचित् प्रमादेन ममाज्ञायां दत्तायामपीत्यर्थः ॥२३०॥

वैष्णवानां वैष्णवेभ्यो बिभेमि, तेष्वपराधेन भगवत्क्रोधविशेषोत्पत्तेः । अतः सदैव परिहर्त्तव्याः ॥२३२॥

सर्व्वेषामेव पूज्याः, विशेषतश्च मम भगवद्धर्म्माभिज्ञस्य मान्याः ॥२३३॥

येषां वैष्णवानामतएव महात्मनां स्मरणमात्रेण ॥२३४॥

पादस्य रजेन रजसैव; नार्म्मदं यामुनञ्च जलं प्राप्यते, किं पुनस्तेषां पादयोर्जलं, तन्महिमा किं वक्तव्य इत्यर्थः । अस्य पानसम्भवेन रजसः सकाशात् माहात्म्यापेक्षया किं पुनरिति न्यायोक्तिः ॥२३५॥

वाक्यमुपदेशरूपं भगवत्कथाकीर्त्तनादिरूपं वा, तदेव जलौघः पयपुरस्तेनैव ॥२३६॥

पराभवे मत्तो भवद्भ्यो वा कथञ्चित् तिरस्कारे सति ब्रह्मलोकादिष्वपि वासं कर्त्तुं न शक्नोमीत्यर्थः ॥२३७

स्कन्दपुराण के अमृतसारोद्धार में लिखित है—हे दूतगण ! यदि तुम सब मेरे हितकारी हो तो, जो मनुष्य एकादशी में भोजन ग्रहण नहीं करते हैं, वे सब शत शत पापयुक्त होने से भी उन सबको परित्याग करना । कोटि कोटि पापयुक्त होने से भी जो मनुष्य, मृत्युकाल में जगन्नाथ जनार्दन का स्मरण करते हैं, मेरी आज्ञा तो यह है कि, उन सबको परित्याग करना । महात्मा वैष्णववृन्द के अनुशासन में ब्रह्मा, हर, अग्नि, इन्द्र, मैं (यम) एवं अन्यान्य सुरगण कोई भी समर्थ नहीं हैं । मैं वैष्णववृन्द के समीप में सर्वदा ही रहता हूँ, अतएव तुम सब वैष्णववृन्दों को परित्याग करना । वैष्णवगण, विष्णु सदृश पूज्य हैं । विशेषतः मेरे माननीय हैं, वैष्णवापमान करने से, अपमानकारी व्यक्ति निश्चय विनष्ट होता है ॥२२९-२३३॥

और भी लिखित है—महात्मा वैष्णववृन्द के स्मरण मात्र से ही निःसन्देह शतलक्ष पाप भस्मीभूत होते हैं, जिनकी चरणरेणु द्वारा गङ्गा, नर्मदा एवं यमुना का सलिल लाभ होता है, उनके चरणयुगल के जल की कथा और क्या कहूँ ? वैष्णववृन्द के वाक्यरूप सलिल समूह के द्वारा गङ्गाजल के विना एवं सहस्र सहस्र तीर्थ के विना मनुष्य स्नात होते हैं ॥२३४-२३६॥

और भी लिखित है—हे दूतगण ! मेरे द्वारा अथवा तुम सबके द्वारा वैष्णववृन्द परास्त होते हैं, तो

न देवा न च गन्धर्व्वा न यक्षोरगराक्षसाः । त्रातुं समर्था ऋषयो वैष्णवानां पराभवे ॥२३८॥
करोमि कर्म्मणा वाचा मनसापि न विप्रियम् । वैष्णवानां महाभागाः सुदर्शनभयादपि ॥२३९
एकतो धावते चक्रमेकतो हरिवाहनम् । एकतो विष्णुदूताश्च वैष्णवे चार्दिते मया ॥२४०॥

बृहन्नारदीये चैकादशी माहात्म्ये—

ये विष्णुभक्तिनिरताः प्रयताः कृतज्ञा, एकादशीव्रतपरा विजितेन्द्रियाश्च ।
नारायणाच्युत हरे शरणं भवेति, शान्ता वदन्ति सततं तरसा त्यजध्वम् ॥२४१॥
नारायणार्पितधियो हरिभक्तभक्तान्, स्वाचारमार्गनिरतान् गुरुसेवकांश्च ।
सत्पात्रदाननिरतान् हरिकीर्त्तिभक्तान्, दूतास्त्यजध्वमनिशं हरिनामसक्तान् ॥२४२॥
पाषण्डसङ्गरहितान् हरिभक्तितुष्टान्, सत्सङ्गलोलुपतरांश्च तथातिपुण्यान् ।
शम्भोर्हरेश्च समबुद्धिमतस्तथैव, दूतास्त्यजध्वमुपकारपरान् नराणाम् ॥२४३॥
ये वीक्षिता हरिकथामृतसेवकैश्च, नारायणस्मृतिपरायणमानसैश्च ।
विप्रेन्द्रपालजलसेवनसम्प्रहृष्टै,-स्तान् पापिनोऽपि च भटाः सततं त्यजध्वम् ॥२४४

हे महाभागा इति स्वदूतान् प्रति शिक्षणार्थं यमस्य सलालनं सम्बोधनम् । हरिवाहनं गरुडः, अर्द्दित इवार्दिते पीड़ार्थोद्यमेऽपि कृते सतीत्यर्थः । विष्णुभक्तिनिरतानेवाह— प्रयता इत्यादिना । स्वाचारो वैष्णव-धर्म्मस्तन्मार्गनिरतान्, सत्पात्राणि वैष्णवास्तेभ्यो यद्दानं, तस्मिन् निरतान् ॥२३९-२४२॥

पाषण्डा विष्णुविमुखाः, अतिपुण्यान् परममङ्गलरूपवैष्णवचिह्नधारिण इत्यर्थः । उपकारः भगवद्-भक्त्युपदेशादिरूपस्तत्परान् ॥२४३॥

विप्रेन्द्रा वैष्णव-ब्राह्मणाः ॥२४४॥

ब्रह्मलोक, शिवलोक, लोकपालगण के आलय में कहीं पर मेरा वास नहीं होगा । देव, गन्धर्व, यक्ष, उरग, राक्षस एवं ऋषि,—कोई भी वैष्णव पराभवकारी की रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं । हे महाभागगण ! मैं सुदर्शन-चक्र के भय से ही वाक्य एवं मन द्वारा वैष्णवों का अप्रिय कार्य्य करने में समर्थ नहीं हूँ । वैष्णव-वृन्द मत् कर्त्तृक पीड़ित होने से एक ओर सुदर्शन चक्र, दूसरी ओर हरि-वाहन गरुड़, अन्य ओर विष्णुदूत गण मेरे प्रति धावित होते रहते हैं ॥२३७-२४०॥

बृहन्नारदीय के एकादशी माहात्म्य में वर्णित है—हे दूतवृन्द ! विष्णुभक्तिपरायण, यत्नशील, कृतज्ञ, एकादशी व्रतरत एवं जितेन्द्रिय होकर 'हे नारायण ! हे अच्युत ! हे हरे ! मेरे आश्रय होओ' सर्वदा शान्तचित्त होकर जो मानव इस प्रकार कहा करते हैं, आशु उन सबको परित्याग कर देना ॥२४१॥

हे दूतगण ! जिन्होंने श्रीहरि को बुद्धि समर्पण किया है, जो वैष्णव भक्त हैं, वैष्णव मार्ग में जिनका आग्रह है, जो गुरु-सेवक हैं, जो वैष्णववृन्द को दान करते हैं एवं हरिकीर्त्ति में भक्तिमान् हैं, हरिनाम में अनुरक्त हैं, सर्वदा उन सबको छोड़ देना ॥२४२॥

हे दूतवृन्द ! अवैष्णव सङ्गत्यागी, हरिभक्ति में सन्तुष्ट, सत्सङ्ग में अतिशय लालसाविशिष्ट, परम मङ्गलरूप वैष्णव-चिह्न विभूषित, शिव एवं हरि में समबुद्धिमान् एवं परोपकार निरत अर्थात् हरिभक्ति उपदेश प्रदाता व्यक्तिगण को उसी प्रकार छोड़ देना ॥२४३॥

हे दूतगण ! हरि-कथामृत-सेवी, नारायण स्मृतिविशिष्ट मानस, वैष्णव ब्राह्मणवृन्द के चरणामृत सेवन से प्रफुल्लचित्त मानव, जिनके प्रति कृपा दृष्टिपात करते हैं, वे सब नित्य पातकी होने से भी सर्वदा उन सबको वर्जन करना चाहिये ॥२४४॥

अतएवोक्तं श्रीनारदेन चतुर्थस्कन्धशेषे (३१।२२ —

श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च, द्विपदपतीन् विबुधांश्च यः स्वपूर्णः ।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः, कथममुमुद्विसृजेत् पुमान् कृतज्ञः ।।२४५।।

अतएव प्रार्थनम्

नारायणव्यूहस्तवे—

नाहं ब्रह्मापि भुयासं त्वद्भक्तिरहितो हरे । त्वयि भक्तस्तु कीटोऽपि भूयासं जन्मजन्मसु ।।२४६।।

श्रीब्रह्मस्तुतौ च दशमस्कन्धे (१४।३०)—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो, भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां, भूत्वानिषेवे तव पादपल्लवम् ।।२४७।।

अतएवोक्तं श्रीनारायणव्यूहस्तवे—

ये त्यक्तलोकधर्म्मार्था विष्णुभक्तिवशं गताः । भजन्ति परमात्मानं तेभ्यो नित्यं नमो नमः ।।२४८

अनुचरन्तीमनुवर्त्तमानामपि श्रियम्; तदर्थिनः सकामान् द्विपदपतीन् नरेन्द्रान् विबुधान् देवानपि यो नानुवर्त्तते, यतः स्वैर्निजभक्तैरेव पूर्णः, अतः स्वभृत्यवर्गानुरक्त एव केवलम्; यद्वा, न भजतीत्यत्र हेतुद्वयम्—स्वपूर्णः स्वेन आत्मनैव पूर्ण इति निजभृत्यवर्गतन्त्र इति च; यद्वा, स्वपूर्णोऽपि निजभृत्यवर्गाधीनः सन् न भजति, एवम्भूतममुं हरिमुत् ईषदपि कथं विसृजेत् ? कृतज्ञः—तस्य कृतमुपकारं कर्म्म वा जानाति अनुसन्दधाति य इत्यर्थः । एवमन्ते भगवद्वशीकरणरूपो भगवद्भक्तानां माहात्म्यविशेषो दर्शितः ।।२४५।।

जन्मजन्मस्विति—मुक्तिविषयके नैरपेक्ष्यं दर्शितं, तत्र भक्तिरसाभावात् ।।२४६।।

तत्तस्मात्तद्भक्तानामेव परमोत्कर्षाद्धेतोः, अत्र भवे ब्रह्मजन्मनि तिरश्चामपि मध्ये यज्जन्म, तस्मिन् वा भूरिभागो महद्भाग्यं मे सोऽस्तु, येन भाग्येन भवदीयानां जनानामेकोऽपि यः कश्चिदपि भूत्वा त्वत्पादपल्लवं निषेवे अत्यर्थं सेवे ।।२४७।।

एवं माहात्म्यप्रकरणमुपसंहरन् भगवद्भक्तान् प्रणमति—य इति । त्यक्ताः लोकाः कलत्रपुत्रादयः, धर्म्मा वर्णाश्रमाचारादयः, अर्थाश्च धनानि मोक्षादयो वा यैस्तथाभूताः सन्तो ये परमात्मानं श्रीकृष्णं भजन्ति । तर्हि किमर्थम् ? इत्यत्राह—विष्णुभक्तेर्वशं गतास्तद्रसाकृष्टचित्तत्वादित्यर्थः । तदुक्तमेव—'कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः' (श्रीभा १।७।१०) इति । एवं चान्ते परममाहात्म्यविशेषो दर्शित इति दिक् ।।२४८

अतएव चतुर्थस्कन्ध के अन्त में श्रीनारद कहे हैं—हे राजन् ! जो स्वयं परिपूर्ण एवं जो निज भक्तजन में ही अनुरक्त होने के कारण, अनुवर्त्तमाना श्री एवं सकाम राजवृन्द एवं देववृन्द की भी अनुवृत्ति ग्रहण नहीं करते हैं, ताहश भगवान् को कौन कृतज्ञ व्यक्ति स्वल्पमात्र भी त्याग करने में समर्थ होगा ?।।२४५।।

अतएव प्रार्थनम्

अतएव नारायण व्यूह स्तव में प्रार्थना इस प्रकार है—हे हरे ! मैं तुम्हारी भक्ति से हीन होकर ब्रह्मा होने का इच्छुक नहीं हूँ । तुम्हारे भक्त होकर जन्म-जन्म यदि कीटदेह भी हो तो वह मेरा वाञ्छनीय है ।

दशमस्कन्धस्थ श्रीब्रह्मस्तुति में लिखित है—हे नाथ ! अतएव, भक्तवर्ग के परमोत्कर्ष हेतु—इस ब्रह्म जन्म में अथवा पशु-पक्ष्यादि के मध्य में जिस किसी जन्म में देह धारण क्यों न करूँ, मेरा उस प्रकार महाभाग्य हो, जैसे मैं भवदीय पुरुषों के मध्य में अर्थात् आपके भक्तगण के मध्य में एक व्यक्ति होकर आपके पादपल्लव की सेवा उत्तम रूप से कर सकूँ ।।४४६-२४७।।

अतएव श्रीनारायणव्यूह स्तव में कथित है—जो मानव, पुत्र, कलत्र, वर्णाश्रमधर्म, धन एवं मोक्षप्रभृति

एवं श्रीभगवद्भक्तमाहात्म्यामृतवारिधेः ।
विचित्रभङ्गलेखार्हो लोभलोलं विनास्ति कः ॥२४९॥
अतः श्रीभगवद्भक्तजनानां सङ्गतिः सदा ।
कार्य्या सर्व्वैः प्रयत्नेन द्वौ लोकौ विजिगीषुभिः ॥२५०॥

अथ श्रीभगवद्भक्तसङ्ग-माहात्म्यम्

भगवद्भक्तपादाब्जपादुकाभ्यो नमोऽस्तु मे ।
यत्सङ्गमः साधनञ्च साध्यं चाखिलमुत्तमम् ॥२५१॥

तत्र सर्व्वपातकमोचकता

बृहन्नारदीये यज्ञमाल्युपाख्यानान्ते—

हरिभक्तिपराणान्तु सङ्गिनां सङ्गमात्रतः । मुच्यते सर्व्वपापेभ्यो महापातकवानपि ॥२५२॥

असंख्येयस्य भगवद्भक्तानां माहात्म्यस्य लिखनद्वारा संख्याया इयत्तापादनेन निजचापल्यमुद्भाव्य तत् परिहरति—एवमिति । श्रीभगवद्भक्तमाहात्म्यमेवामृतवारिधिस्तस्य विचित्राणां भङ्गानामूर्मीणां परम्पराणां लेखस्य लिखनस्य अर्हो योग्यः । लोभेन तद्रसतृष्णया लोलं चञ्चलं जनं विना कोऽन्योऽत्रास्ति ? केवलं चाञ्चल्येनैव तद्योग्यः स्यान्न चान्यथा कथञ्चित्, तच्च तन्माधुरीविशेषेणाकर्षणादेवेत्यर्थः ॥२४९॥

अतः लिखितादस्मात् माहात्म्याद्धेतोः, द्वौ लोकौ विजिगीषुभिः, लोकद्वयं विशेषतो जेतुमिच्छद्भिः, ऐहिकामुष्मिक-साधनसाध्यवर्गं वशीकर्त्तुं सर्व्वैरेव सदा कार्य्येत्यर्थः ॥२५०॥

इदानीं तेषां सङ्गमाहात्म्यं लिखन् तत्सुसिद्धये प्रथमं तान् प्रणमति—भगवदिति; यद्यपि भगवद्भक्तानां माहात्म्यलिखनेन तत्सङ्गति-माहात्म्यलिखनेन तेषाञ्च माहात्म्यं लिखितं स्यात्, तथापि सङ्गं विनापि दूरतः कथञ्चित् सेवयापि कृतार्थता स्यादित्यभिप्रायेण पृथग् पृथग् लिखितम् । उत्तमं सर्व्वतः श्रेष्ठमखिलं साधनं साध्यञ्च फलम्, एवं संक्षेपेण माहात्म्यमखिलमेवोल्लिखितम् ॥२५१॥

तदेव विवेचयन् यथोत्तरं श्रैष्ठ्यक्रमेण लिखति—हरिभक्तीत्यादिना साधुसमागम इत्यन्तेन । सङ्गिनां गृहाद्यासक्तिमतामपि; यद्वा, हरिभक्तिपराणां ये सङ्गिनस्तेषामपि ॥२५२॥

वर्जन पूर्वक विष्णुभक्ति परायण होकर परमात्मा श्रीहरि की आराधना करते हैं उनको नित्य नमस्कार, नमस्कार ॥२४८॥

उक्त रसतृष्णा में चञ्चलजन व्यतीत अपर कौन व्यक्ति श्रीभगवद्भक्त माहात्म्यरूप सुधार्णव की विचित्र तरङ्ग परम्परा का चित्रण करने में सक्षम हैं ? ॥२४९॥

अतएव इस लोक एवं परलोक के जयेच्छु व्यक्ति, सर्वदा सर्व प्रयत्न से भगवद्भक्त का सङ्ग करें ॥२५०

अथ श्रीभगवद्भक्तसङ्ग-माहात्म्यम्

जिनका सङ्ग, निखिल साध्य साधन का फलस्वरूप है, उन भगवद्भक्त की पादुका के प्रति मेरा नमस्कार है ॥२५१॥

तत्र सर्व्वपातकमोचकता

बृहन्नारदीय पुराण में यज्ञमाली के उपाख्यान के अन्त में लिखित है—हरिभक्तिपरायण व्यक्ति के सङ्गी का सङ्ग प्राप्त मात्र से ही महापातकान्वित जनगण भी निखिल पापों से विमुक्त होते हैं ॥२५२॥

सामान्यतोऽनर्थनिवर्त्तकतार्थप्रापकता च

पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये श्रीमुनिशर्म्माणं प्रति प्रेतानामुक्तौ—

विनाशयत्यपयशो बुद्धिं विशदयत्यपि । प्रतिष्ठापयति प्रायो नृणां वैष्णवदर्शनम् ।।२५३।।

तत्र श्रीयमब्राह्मण-संवादे महारथनृपोक्तौ—

यथा प्रपद्यमानस्य भगवन्तं विभावसुम् । शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतः सदा ।।२५४।।

तत्रैव प्रेतोपाख्याने प्रेतोक्तौ—

अपाकरोति दुरितं श्रेयः संयोजयत्यपि । यशो विस्तारयत्याशु नृणां वैष्णवसङ्गमः ।।२५५।।

अथ सर्व्वतीर्थाधिकता

तत्रैव—

गङ्गादिपुण्यतीर्थेषु यो नरः स्नातुमिच्छति । यः करोति सतां सङ्गं तयोः सत्सङ्गमो वरः ।।२५६

अथ सर्व्वसत्कर्म्माधिकता

तत्रैव भगीरथनृपोक्तौ—

यः स्नातः शान्तिसितया साधुसङ्गतिगङ्गया ।
किन्तस्य दानैः किन्तीर्थैः किन्तपोभिः किमध्वरैः ।।२५७।।

प्रतिष्ठापयति प्रतिष्ठां करोति, तत्र प्राय इति कस्याश्चित् प्रतिष्ठाया वैष्णवैरुपेक्ष्यत्वात्; वैष्णवानां दर्शनमात्रमपि, अस्तु तावत् सङ्गः ।।२५३।।

पूर्व्वं यथोपश्रयमाणस्येत्यत्र दूरतोऽपि सेवामात्रमपेक्षितं, न तु सङ्गः; अत्र च प्रपद्यमानस्येत्यनेन सङ्ग एवेति भेदः। एवं सं-शब्देनात्र सङ्गोऽभिप्रेतः, तत्र च श्रद्धयेत्येषा दिक् ।।२५४।।

दुरितं पापं, श्रेयः मङ्गलं, यशः मुक्तत्व-भक्तत्वादि-माहात्म्यम्; यद्वा, दुरितं संसारं, श्रेयश्चतुर्वर्गं, यशः मुक्तेभ्योऽप्युत्कर्षादिकम्; आशु इत्यस्य पूर्व्ववाक्यत्रय एव सम्बन्धः ।।२५५।।

स्नातुमिच्छति श्रद्धया स्नातीत्यर्थः, तयोः स्नातृसङ्गकर्त्रोर्मध्ये वरः श्रेष्ठः ।।२५६।।

साधुसङ्गतिरेव गङ्गा, तया स्नातः। कथम्भूतया ? शान्त्या सितया परमोज्ज्वलया; गङ्गापि शुक्लवर्णा

सामान्यतोऽनर्थनिवर्त्तकतार्थप्रापकता च

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में श्रीमुनिशर्मा के प्रति प्रेतगण की उक्ति है—वैष्णव दर्शन, मनुष्यवृन्द की अकीर्त्ति को विनष्ट करता है, उत्तमा बुद्धि प्रदान करता है, अर्थात् बुद्धि को निर्म्मल करता है, एवं प्राय प्रतिष्ठा प्रदायक है ।।२५३।।

उक्त पद्मपुराण के श्रीयम-ब्राह्मण-संवाद में महारथ नृपति ने कहा है—जिस प्रकार भगवान् अग्नि का आश्रय ग्रहण करने से शीत, भय एवं अन्धकार विदूरित होता है, उस प्रकार सर्वदा साधु संसेवि जनगण के सब भय विनष्ट हो जाते हैं ।।२५४।।

पद्मपुराण के प्रेतोपाख्यान में प्रेतोक्ति इस प्रकार है—वैष्णवसङ्ग, सत्वर मनुष्यवृन्द का पाप निवारण करता है, मङ्गल प्रदान करता है एवं यशः विस्तार करता है ।।२५५।।

अथ सर्व्वतीर्थाधिकता

पद्मपुराण में लिखित है—जो मनुष्य, गङ्गादि पुण्यतीर्थ समूह में स्नान करते हैं एवं जो व्यक्ति सत्सङ्ग करते हैं, उभय के मध्य में सत्सङ्गकारी व्यक्ति ही श्रेष्ठ हैं ।।२५६।।

अथ सर्व्वसत्कर्म्माधिकता

पद्मपुराण में ही भगीरथ नृपति की उक्ति है—जो मानव, शान्ति समुज्ज्वला सत्सङ्गतिरूपा गङ्गा में

अथ सर्व्वेष्टसाधकता

तत्रैव—

यानि यानि दुरापाणि वाञ्छितानि महीतले ।
प्राप्यन्ते तानि तान्येव साधूनामेव सङ्गमात् ॥२५८॥

अथ अनर्थस्याप्यर्थत्वापादकता

वाशिष्ठे—

शून्यमापूर्णतामेति मृतिरप्यमृतायते । आपत् सम्पदिवाभाति विद्वज्जन-समागमे ॥२५९॥

तृतीय स्कन्धे (२३।५५) श्रीदेवहूतेरुक्तौ—

सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया । स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते ॥२६०॥

श्रीकपिलदेवोक्तौ (श्रीभा ३।२५।२०)—

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥२६१॥

यतः—

अरिर्मित्रं विषं पथ्यमधर्म्मो धर्म्मतां व्रजेत् । प्रसन्ने पुण्डरीकाक्षे विपरीते विपर्य्ययः ॥२६२॥

भवति। एवं साधुसङ्गतेरुत्कर्षः; यद्वा, शान्तिरेव सिता शर्करा यस्यामिति गङ्गायास्तथात्वाभावात् साधुसङ्गतेरुत्कर्षो वितर्क्यः ॥२५७॥

शून्यं बन्धुवियोगादिना रिक्ततां प्राप्तमपि गृहादि अमृतायते, भगवत्पदप्रापणात्। सम्पत् धनैश्वर्य्यादि; इवेति लोकोक्तौ, विद्वांसः श्रीभगवद्भक्तिमाहात्म्याभिज्ञाः ॥२५९॥

अधिया विवेकहीनेन जनेन असत्सु विहितो यः संसारस्य हेतुः सङ्गविषयभोगादिरूपः; अप्यर्थे एवशब्दः, सोऽपि साधुषु कृतश्चेत्तर्हि निःसङ्गताय संसारनाशाय कल्पते, समर्थो भवति ॥२६०॥

प्रसङ्गमत्यन्तासक्तिम्; अपावृतं निरावरणम् ॥२६१॥

ननु तादृशस्य महानर्थस्य कथमीदृशत्वम्? श्रीभगवत्कारुण्यमहिम्नैवेति लिखति—अरिरिति द्वाभ्याम्; 'धर्म्मो भवत्यधर्म्मोऽपि' इति पूर्व्वं लिखितार्थमेव; मत्प्रभावत इत्यस्योभयत्रापि सम्बन्धः, अतोऽत्र हेत्वनुसन्धानादिकं न कार्य्यमिति भावः ॥२६२॥

स्नान किये हैं, उनको दान, तपस्या, तीर्थ यज्ञानुष्ठान प्रभृति का प्रयोजन नहीं है ॥२५७॥

अथ सर्व्वेष्टसाधकता

पद्मपुराण में लिखित है—महीमण्डल में जो सब दुष्प्राप्य वाञ्छित द्रव्य हैं, तत् समुदाय की प्राप्ति साधुसङ्ग प्रभाव से ही होती है ॥२५८॥

अथ अनर्थस्याप्यर्थत्वापादकता

वाशिष्ठ में उक्त है—भगवद्भक्तिमाहात्म्याभिज्ञ बुधजन के सहित समागम होने से बन्धुवियोगादि द्वारा शून्य गृह भी परिपूर्ण होता है, मृत्यु-अमृतत्व को प्राप्त करती है एवं आपद भी सम्पद् के समान प्रतिभात होती है ॥२५९॥

तृतीयस्कन्ध में देवहूति की उक्ति है—अज्ञानतावशतः असज्जन के सहित जो संसर्ग बन्धन का कारण होता है, वह संसर्ग ही सज्जन के सहित होने से निःसङ्गत्व होता है, अर्थात् विमुक्ति का कारण होता है ॥२६०॥

तृतीयस्कन्ध में श्रीकपिलदेव की उक्ति है—हे मातः! पण्डितगण कहते हैं, आसक्ति- आत्मा का दृढ़ पाश स्वरूप है, किन्तु वही पुनः सत्पुरुषों में विहित होने से उद्घाटित मुक्ति द्वार स्वरूप होती है ॥२६१॥

कारण, पुण्डरीकाक्ष प्रसन्न होने पर, शत्रु-मित्र, विष-पथ्य, अधर्म-धर्म में परिणत होता है, एवं उसके

किञ्च, श्रीभगवद्वाक्यम्—

मन्निमित्तं कृतं पापमपि धर्म्माय कल्पते। मामनादृत्य धर्म्मोऽपि पापं स्यान्मत्प्रभावतः २६३॥

अथ देहदैहिकादिविस्मारकता

चतुर्थस्कन्धे श्रीध्रुवोक्तौ (९।१२)—

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं, ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द,-सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः ॥२६४॥

अथ जगदानन्दकता

पाद्मे तत्रैव प्रेतेक्तौ—

रसायनमयी शीता परमानन्ददायिनी। नानन्दयति कं नाम वैष्णवाश्रयचन्द्रिका ॥२६५॥

अथ मोक्षप्रदत्वम्

दशमस्कन्धे श्रीमुचुकुन्द-स्तुतौ (५१।५३)—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे,-ज्जनस्य तर्ह्यच्युते सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ, परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥२६६॥

ते अतितराम् अत्यन्तं प्रियमपि मर्त्यं देहं न स्मरन्ति नानुसन्दधते; अतितरामित्यस्यात्रैवान्वयः, सम्यग्विस्मरन्तीत्यर्थः। ये च सुतादयः अदः मर्त्यमनुसम्बन्धास्तानपि न स्मरन्ति; ते के न स्मरन्ति? ये कृतप्रसङ्गाः। केषु? भवदीयं भवदीयानामपि यत् पदारविन्दसौगन्ध्यं तस्मिन् लुब्धमपि हृदयं येषां तेषु; तु-शब्देनान्येषां केवलयोगादि-निष्ठानां देहाभिमानान्निवृत्तिं, तत्र तत्राभिमानविशेषं वा दर्शयति ॥२६४॥

रसायनं रोगहर्त्ता, पुष्ट्यादिकर्त्ता, स्वादुकौषधविशेषस्तन्मयी, शीता शीतला तापहरेत्यर्थः। चन्द्ररश्मिरपि अमृतमयत्वाद्रसायनमयी सद्य एव पित्तोपशमनादि-स्वभावकत्वात्। अन्यत् सममेव ॥२६५।

भो अच्युत! भ्रमतः संसरतो जनस्य यदा त्वदनुग्रहेण भवस्य बन्धस्य अपवर्गः अन्तो भवेत्, कालः प्राप्तः स्यात्, तदा सतां सङ्गमो भवेत्। यदा च सत्सङ्गमो भवेत्, तदा सर्व्वसङ्गनिवृत्त्या कार्य्यकारणनियन्तरि

विपर्य्यय से विपर्य्यय होता है। अर्थात् भगवान् अप्रसन्न होने पर मित्र, शत्रु होता है, पत्थ्य, विष होता है और धर्म भी अधर्म होता है ॥२६२॥

भगवद्वाक्य भी इस प्रकार है—मेरे निमित्त पातक अनुष्ठित होने पर भी मेरे प्रभाव से वह धर्मार्थ कल्पित होता है, और मेरे प्रति आदर न होने से धर्म भी अधर्म में परिणत होता है ॥२६३॥

अथ देहदैहिकादिविस्मारकता

चतुर्थस्कन्ध में श्रीध्रुवोक्ति यह है—हे कमलनाभ! आपके चरण-कमल की सौगन्ध्य से जिनका हृदय अतिशय लोलुप है, अर्थात् जो मानव आपके ऐकान्तिक भक्त हैं, उनका सङ्गप्राप्त जिस मनुष्यगण को है, वे सब, अत्यन्त प्रिय मानवदेह एवं मानवदेह के अनुवर्त्ती गृह, वित्त, मित्र, पुत्र, कलत्र प्रभृति को भूल जाते हैं। ॥२६४॥

अथ जगदानन्दकता

पद्मपुराण में प्रेतोक्ति इस प्रकार है—रसायनमयी, शीतला, परमानन्ददायिनी, वैष्णवाश्रयरूपाचन्द्रिका किसको आनन्दित नहीं करती है? ॥२६५॥

अथ मोक्षप्रदत्वम्

दशमस्कन्ध की मुचुकुन्द स्तुति में वर्णित है—श्रीमुचुकुन्द ने कहा—हे अच्युत! आपकी अनुकम्पा से जिस समय सांसारिक-जन का भव-बन्धन छिन्न होता है, उस समय साधुसङ्ग लाभ होता है। उसी समय

अतएवोक्तं श्रीप्रचेतोभिश्चतुर्थस्कन्धे (३०।३५-३७)—

यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः। निर्व्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन ॥२६७॥

यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः। प्रस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः ॥२६८॥

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया। भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥२६९

अथ सर्व्वसारता

बृहन्नारदीये श्रीनारद-सनत्कुमार-संवादे —

असारभूते संसारे सारमेतदजात्मज। भगवद्भक्तसङ्गो हि हरिभक्तिं समिच्छताम् ॥२७०॥

त्वयि भक्तिर्भवति, ततो मुच्यत इत्यर्थः। यदि वायमर्थः—भवस्य गृहाद्यासक्तिलक्षणस्य संसारस्यापवर्गः परित्यागो यदा भवेत्, तदैव अच्युतः स्थिरः सत्समागमो भवेत्। पूर्व्ववद्वा विषयमहिमवतः परमपुरुषार्थता-बोधनार्थं विशेषणद्वयम्। सतां मुक्तानामपि भक्तानामेव वा गतौ प्राप्ये; परावरयोः चिच्छक्ति-मायाशक्त्योः लक्ष्मीभूम्योर्वा पराणां श्रीगोपीनाम्, अवराणाञ्च श्रीरुक्मिण्यादीनामीशे स्वामिनीति तदा च भगवत्प्रेम-प्रदत्वेऽयं श्लोको द्रष्टव्यः ॥२६६॥

यत्र येषु, यतो याभ्यः कथाभ्यः, निर्वैरं वैराभावः, यत्र यासु कथासु मुक्तसङ्गैस्तैरेव नारायणः साक्षात् प्रस्तूयते; यद्वा, न्यासिनामपि गतिराश्रयो नारायणो भगवान् यत्र साक्षादस्तीति। मुक्तसङ्गैः श्रीसनकादिभिः सत्कथासु मध्ये प्रस्तूयते; यद्वा, मुक्तसङ्गैरात्मारामैरपि यत्र नारायण एव साक्षात् प्रस्तूयते, न तु ज्ञानादि; एतादृशं येषां माहात्म्यमित्यर्थः ॥२६७-२६८॥

पद्भ्यां पावनेच्छया; यद्वा, पद्भ्यां विचरतामिति सौलभ्यमुक्तम्। संसाराद्भीतस्यापि किं न रोचेत? अपि तु रोचत एव, भीतानामनन्यगतित्वात्; तदुक्तं भगवतैव—'सन्तोऽर्व्वाग्बिभ्यतोऽरणम्' इति ॥२६९॥

संसारे, प्रपञ्चे, किम्? तदाह—भगवद्भक्तसङ्ग इति। हरिभक्तिं सम्यगिच्छतां जनानामिति हरिभक्ति-वाञ्छाविशेषं विना भगवद्भक्तसङ्ग-माहात्म्याननुभवात्; यद्वा, तेषां श्रेष्ठसाधनमेतदेवेति व्याख्यायां श्लोका भक्तिसम्पादकतायां द्रष्टव्यः ॥२७०॥

सर्व सङ्ग निवृत्ति द्वारा कार्य्यकारण नियन्ता एवं साधुजनों के परमाश्रयस्वरूप आपमें दृढ़ निश्चयरूपा मति का उदय होता है, उससे मुक्ति प्राप्ति होती है ॥२६६॥

अतएव चतुर्थस्कन्ध में प्रचेतोगण की उक्ति इस प्रकार है—हे भगवन्! तुम्हारे निज सङ्गियों के सन्निधान में तृष्णाशान्तिकारिणी पवित्र कथा का प्रसङ्ग होता है। जो प्राणिसमूह में वैरहीन हैं, जिनके निकट किसी प्रकार उद्वेग नहीं है। जो मुक्तसङ्गिगण, सत्कथा के अवसर में संन्यासिवृन्द की परमागति साक्षात् नारायण का प्रसङ्ग कीर्त्तन पुनः पुनः करते हैं, जो तीर्थसमूह को पवित्र करने के मानस से पदव्रज से तीर्थसमूह में भ्रमण करते हैं, उन भवदीय पुरुषों का सङ्ग प्राप्त करने में संसारभीत किस पुरुष की इच्छा नहीं होती है ?॥२६७-२६९॥

अथ सर्वसारता

बृहन्नारदीय में श्रीनारद-सनत्कुमार-संवाद में लिखित है—हे ब्रह्मनन्दन! जो जन, सम्यक् प्रकार से हरिभक्ति नाम का अभिलाषी हैं, उनके सम्बन्ध में इस असार संसार में भगवद्भक्त-सङ्ग को ही सार जानना चाहिये ॥२७०॥

पाद्मे तत्रैव महारथनृपोक्तौ—

असागरोत्थं पीयूषमद्रव्यं व्यसनौषधम् । हर्षश्चालोकपर्य्यन्तः सतां किल समागमः ।।२७१।।

अथ भगवत्कथामृतपानैकहेतुता

पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये श्रीनारदोक्तौ—

प्रसङ्गेन सतामात्ममनःश्रुतिरसायनाः । भवन्ति कीर्त्तनीयस्य कथाः कृष्णस्य कोमलाः ।।२७२

तृतीयस्कन्धे श्रीकपिलदेवोक्तौ (२५।२५)—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य्यसंविदो, भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि, श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ।।२७३।।

चतुर्थे श्रीनारदोक्तौ (२९।४०-४१)—

यत्र भागवता राजन् साधवो विशदाशयाः । भगवद्गुणानुकथन-श्रवणव्यग्रचेतसः ।।२७४।।
तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र,-पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढ़कर्णै,-स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड् भयशोकमोहाः ।।२७५।।

सतां समागमः पीयूषं भवत्येव, किन्तु असागरोत्थम्; अतः सागरोद्भूतस्य देवभोग्य-पीयूषस्य मथनादि-परिश्रमेणैव साधनाद्वारुण्यादिसम्बन्धाच्च ततोऽप्यस्य श्रैष्ठ्यं सूचितम् । तथाह—अद्रव्यमिति, द्रव्यमयौषधे पाकक्रियाप्रयासोऽथ भक्षणादियत्नश्चापेक्षते इत्यत्र तत्तदभावादस्य श्रैष्ठ्यम । तथा 'सुखस्यान्ते भवेद्दुःखम्' इति न्यायेनान्यो हर्षः शोकावसान एव स्यात्, अयं हर्षयतीति हर्षरूपो वा शोकान्तो न भवति, किन्तु सदा हर्ष एव; अतोऽस्य नित्यपरमानन्दमयत्वमित्यर्थः । एवञ्च सर्व्वसारतैव सिद्धा ।।२७१।।

आत्मनां सर्व्वेषामेव जीवानां मनसः श्रुत्योश्च रसायनाः सुखप्रापकाः, यतः कोमला मधुराः ।।२७२।।

वीर्य्यस्य सम्यग्वेदनं यासु ताः वीर्य्यसंविदः, अतएव हृत्कर्णरसायनाः सुखदाः, तासां जोषणात् सेवनात् अपवर्गोऽविद्यानिवृत्तिर्मोक्षो वा वर्त्म यस्मिन् तस्मिन् हरौ प्रथमं श्रद्धा, ततो रतिस्ततो भक्तिः अनुक्रमिष्यति क्रमेणैव भविष्यतीत्यर्थः । रतिश्च रत्याख्यो भावः, भक्तिश्च प्रेमलक्षणा; एतद्विवरणञ्च श्रीमहानुभावैरेव रसार्णवे कृतमस्त्येव ।।२७३।।

ननु साधुसङ्गं विना स्वयमेव हरिकथा-चिन्तना-दिना भक्तिर्भवेदित्याशङ्क्याह—यत्रेति द्वाभ्याम् । स्थाने भगवतो गुणानुकथने श्रवणे च व्यग्रं सत्वरमत्यासक्तं वा चेतो येषां ते ।।२७४।।

तस्मिन् स्थाने महद्भिर्मुखरिताः; कीर्त्तिताः यद्वा, महान्तः मौनादिशीला अपि मुखरिता याभिः ताः; मधुभिदश्चरितमेव पीयूषं, तदेव शिष्यत इति शेषो यासु ताः, असारांशरहित-शुद्धामृतवाहिन्य इत्यर्थः ।

पद्मपुराण की महारथनृपोक्ति में लिखित है—सत्समागम, असागरोद्भूत अमृत है, अनायास लभ्य औषध है, एवं समस्त प्राणियों का एकमात्र आनन्द प्रदायक है ।।२७१।।

अथ भगवत्कथामृतपानैकहेतुता

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में श्रीनारदमुनि का कथन है—सत्प्रसङ्ग में मन एवं कर्ण सुख दायिनी कीर्त्तनीय श्रीकृष्ण की कोमला कथा होती है ।।१७२।।

तृतीयस्कन्ध में श्रीकपिलदेव की उक्ति है—हे मातः ! सज्जनसङ्ग उपस्थित होने पर मद्वीर्य्य प्रकाशिका कथा होती है, वह हृदय एवं कर्णानन्द दायक है, अतएव उसका सेवन से आशु मुझमें अर्थात् अपवर्ग वर्त्म-स्वरूप भगवान् श्रीहरि में, क्रमानुसार- श्रद्धा, रति एवं भक्ति का उदय होता है ।।२७३।।

चतुर्थस्कन्ध में श्रीनारदमुनि का कथन है—हे राजन् ! निर्म्मल मति भगवद्भक्ति परायण साधुव्यक्तिगण

पञ्चमे श्रीब्राह्मणरहूगण-संवादे(१२।१३) —

यत्रोत्तमःश्लोकगुणानुवादः, प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः ।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो,-र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥२७६॥

एकादशे श्रीभगवदुद्धव-संवादे श्रीऐलोपाख्यानान्ते (२६।२८-२६)—

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः । सम्भवन्ति हि ता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ॥२७७

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥२७८॥

भक्तिसम्पादकता

बृहन्नारदीये तत्रैव—

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसङ्गेन परिजायते । सत्सङ्गः प्राप्यते पुम्भिः सुकृतैः पूर्व्वसञ्चितैः ॥२७९॥

अवितृषः अलं बुद्धिशून्याः सन्तो गाढ़ैः सावधानैः कर्णैः ये ताः सरितः पिबन्ति सेवन्ते । अशन-शब्देन क्षुल्लभ्यते, अशनादयस्तान्न स्पृशन्ति, भक्तिरसिकान्न बाधन्त इत्यर्थः । नृप हे प्राचीनबर्हिः ! सत्सङ्गमन्तरेण स्वयमेव कथाचिन्तनादावालस्यादिना रसावेशाभावतः क्षुत्पिपासाद्यभिभूतस्य भक्त्यसम्भवादवश्यं सत्सङ्गो विधेयः, ततश्च भगवत्कथामृतरसपानादिरूपा भक्तिः स्वतः सम्पद्यत एवेति भावः ॥२७५॥

यत्र येषु महत्सु, ग्राम्यकथानां विघातो यस्मात् मुमुक्षोरपि, सतीं मतिं प्रेमभक्तिमित्यर्थः ॥२७६॥

सम्भवन्ति सम्यक् जायन्ते, ताः कथा एव अघं पापं प्रकर्षेण पुनन्ति, सवासनमुन्मूलयन्ति, संसार-दुःखं नाशयन्तीति वा ॥२७७॥

श्रवणादिभिरेव मत्पराः श्रद्दधानाश्च श्रवणादिष्वेव प्रीतिमन्तः सन्तः भक्तिं प्रेमलक्षणां विन्दन्ति । भगवद्-भक्तसङ्गस्य दौर्ल्लभ्यमाह- सत्सङ्ग इति ॥२७८-२७९॥

श्रीप्रभु के गुण कीर्त्तन एवं श्रवण करने के निमित्त व्यग्रचित्त होकर जहाँ विराज करते हैं, वहाँ प्रायशः महद् व्यक्तिगणों के वदन से भगवान् मधुसूदन के अमल चरित्र कीर्त्तित होते हैं, हे राजन् ! भगवच्चरित्र कथा, साक्षात् अमृतवाहिनी नदीस्वरूपा है । जो व्यक्ति, सावधानतया उक्त नदी की सेवा करते हैं, उनको क्षुधा, तृष्णा, भय, शोक, मोह प्रभृति स्पर्श करने में अक्षम हैं । फलतः जो भक्तिरस में सुरसिक हैं, क्षुधा प्रभृति के द्वारा उनके पक्ष में विघ्न उत्पन्न होने की सम्भावना ही कहाँ है ?॥२७४-२७५॥

पञ्चमस्कन्ध में श्रीब्राह्मण रहूगण-संवाद में लिखित है– हे नरेन्द्र ! साधुजनगण के निकट सर्वदा उत्तम श्लोक भगवान् का गुणानुवाद ही होता है, वहाँ ग्राम्यवार्त्ता का लेशमात्र नहीं है, सर्वदा उक्त गुणानुवाद सेवित होने से वही श्रीवासुदेव के प्रति मुमुक्षु पुरुषों को सद्बुद्धि प्रदान करता है ॥२७६॥

एकादशस्कन्ध के भगवदुद्धव-संवाद में लिखित है– हे महाभाग उद्धव ! शिष्ट मानवों के हितकर मेरी कथा साधुवृन्द के निकट में उपस्थित होती है, वह श्रवणकारी व्यक्तियों का हितकारी होकर पाप मोचन करती है । जो सश्रद्ध भक्त, आदरपूर्वक उक्त कथा श्रवण करते हैं अथवा गान करते हैं, किंवा अनुमोदन करते हैं, वे सब मुझमें भक्ति लाभ करते हैं ॥२७७-२७८॥

भक्तिसम्पादकता

बृहन्नारदीय पुराण के उक्त स्थान में लिखित है—भगवद्भक्त सङ्ग होने से भगवद्भक्ति का उदय होता है । जन्मान्तरीण पुण्य के फल से ही सत्सङ्ग लाभ होता है ॥२७९॥

श्रीभगवद्वशीकारिता

एकादशे श्रीभगवदुद्धव-संवादे (११।४६, १२।१-२)—

अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन। सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा ॥२८०

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म्म एव वा।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा ॥२८१॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्व्वसङ्गापहो हि माम् ॥२८२॥

अतएवोक्तं विदुरेण तृतीयस्कन्धे (७।१९)—

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः। रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्द्दनः ॥२८३॥

सांख्ययोगादीनि साधनान्तर-सव्यपेक्षाणि सव्यभिचाराणि च, सत्सङ्गस्तु स्वतन्त्र एव, समर्थः फलाव्यभिचारी चेति वर्णयितुमाह—अथेति त्रिभिः। एतद्वक्ष्यमाणं परमं गुह्यं शृणु, यतस्त्वं मम भृत्यः, सुहृत्, ज्ञातिः, सखा च, अतः सुगोप्यमपि वक्ष्यामि। न बोधयति न वशीकरोति, योगोऽष्टाङ्गः, सांख्यं तत्त्वानां विवेकः, धर्म्मः सामान्यतः अहिंसादिर्वर्णाश्रमाचारो वा, स्वाध्यायो वेदजपः, तपः कृच्छ्रादि, त्यागः सन्न्यासः, इष्टापूर्त्तं इष्टं पूर्त्तञ्च; तत्र इष्टमग्निहोत्रादि, पूर्त्तं कूपारामादिनिर्म्माणम्; दक्षिणा-शब्देन सामान्यतो दानं लक्ष्यते, व्रतानि एकादश्युपवासादीनि, यज्ञो देवपूजा, छन्दांसि रहस्यमन्त्राः, नियमा बाह्येन्द्रियनिग्रहादयः, यमा अन्तःकरणसंयमादयः; यद्वा, 'अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः। आस्तिक्यं ब्रह्मचर्य्यञ्च मौनं स्थैर्य्यं क्षमा भयम् ॥ शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्च्चनम्। तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्य्यसेवनम् ॥' (श्रीभा ११।१९।३३-३४) इति भगवदुक्तलक्षणा ग्राह्याः। अत्र अस्तेयं मनसापि परस्वाग्रहणम्, आस्तिक्यं धर्म्मे विश्वासः, भयं पापादिभ्यः, शौचं बाह्यमान्तरञ्चेति द्वयम्, अतो द्वादशनियमाः श्रद्धाधर्म्मादय इति। अवरुन्धे वशीकरोति, सर्व्वसङ्गापहः बाह्यान्तराशेषासक्ति-निरसनः ॥२८०-२८२॥

येषां भगवद्भक्तानां सेवया सङ्गरूपया, कूटस्थस्य निर्व्विकारस्यापि; यद्वा, श्रीगोवर्द्धनशृङ्गोपरि वर्त्तमानस्य मधुद्विषो भगवतः श्रीकृष्णस्य पादयोः चरणारविन्दयो रतिरासः प्रेमोत्सवः तीव्रः स्वाभाविको भवेत्। व्यसनं संसारदुःखमर्द्दयति नाशयतीति तथा सः; यद्वा, मधुद्विट्सम्बन्धिरत्या प्रेम्णा रतियुक्तो वा रासः रासक्रीड़ा तीव्रः अत्युत्कटः देवादीनामपि मोहनत्वात् बहुकालव्यापित्वाच्च। पादयोर्व्यसनानि दुःखान्यर्द्दयतीति तथा सः, सर्व्वेन्द्रियानन्दकस्यापि रासस्य प्रायो नृत्यविशेषत्वेन गतिविशेष-सम्पत्तेः। यद्वा, मधुद्विषः पादयोरित्येवान्वयः। ततश्च तच्चरणारविन्दद्वयेन सहेत्यर्थः। पूर्व्ववदेव, अतोऽस्य फलविशेषत्वेनान्ते लेखः ॥२८३॥

श्रीभगवद्वशीकारिता

एकादशस्कन्ध के भगवदुद्धव-संवाद में वर्णित है—श्रीभगवान् कहे थे—हे उद्धव ! तुम मेरा भृत्य, सुहृद् एवं सखा हो, अतएव तुम्हें परम गोपनीय विषय कहता हूँ, सुनो। अष्टाङ्ग योग, तत्त्वविवेक, अहिंसादि धर्म, वेदपाठ, तपस्या, संन्यास, यज्ञ, कूपारामादि निर्माण, दान, एकादश्यादि व्रत, देवपूजा, रहस्य मन्त्र, तीर्थ भ्रमण, नियम एवं यम, यह सब तादृश वशीभूत करने में सक्षम नहीं हैं। सर्व संसार सङ्गापहारक साधुसङ्ग जिस प्रकार मुझको वशीभूत करता है ॥२८०-२८२॥

अतएव विदुरकर्त्तृक तृतीयस्कन्ध में वर्णित है—विदुर मैत्रेय को कहे थे, हे मुने ! आपके चरणकमलों की आराधना करने से निर्विकार मधुसूदन के चरणकमलों में तीव्र प्रेमोत्सव उत्पन्न होता है, अतएव वही उत्सव संसार को विदूरित करता है ॥२८३॥

अथ स्वतः परमपुरुषार्थता

प्रथमस्कन्धे श्रीशौनकादीनां (१८।१३), चतुर्थे च श्रीप्रचेतसामुक्तौ (३०।३४)—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥२८४॥

चतुर्थे श्रीप्रचेतसः प्रति श्रीशिवोपदेश (२४।५७)—

क्षणार्द्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥२८५

द्वादशे श्रीमार्कण्डेयोपाख्याने श्रीशिवस्य (१०।७)—

तथापि संवदिष्यामो भवान्येतेन साधुना । अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः ॥२८६॥

अतएव श्रीप्रह्लादं प्रति श्रीधरण्योक्तं हरिभक्तिसुधोदये—

अक्ष्णोः फलं त्वादृशदर्शनं हि, तन्वाः फलं त्वादृशगात्रसङ्गः ।
जिह्वाफलं त्वादृशकीर्त्तनं हि, सुदुर्लभा भागवता हि लोके ॥२८७॥

अतएव विदुरेण तृतीयस्कन्धे (७।२०)—

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु । यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्द्दनः ॥२८८॥

भगवत्सङ्गिनो भगवद्भक्ताः, तेषां सङ्गस्य यो लवः अत्यल्पः कालः, तेनापि स्वर्गं न तुलयाम, समं न पश्याम, न चापुनर्भवं मोक्षम् । मर्त्यानां तुच्छा आशिषो राज्याद्या न तुलयामेति किमुत वक्तव्यम् । एवं फलरूपात् स्वर्गात् अपवर्गादप्यधिकत्वेन सत्सङ्गस्य परमफलत्वं सिद्धम् ॥२८४॥

भगवत्-सङ्गिसङ्गस्य क्षणार्द्धेनापि स्वर्गं न तुलये, समं न पश्यामि, न वापुनर्भवम् ॥२८५॥

यद्यपि 'नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत । भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये ॥' (श्रीभा १२।१०।६), तथापि अनेन श्रीमार्कण्डेयेन सह संवदिष्यामः, सम्भाषां करिष्यामः, यतः साधुभिः समागमः संयोगः, अयमेव परमो लाभः फलम् ॥२८६॥

त्वादृशानां कथञ्चित् त्वदनुकरणवतामपि दर्शनमेवाक्ष्णोः फलम्, एवमन्यदपि ॥२८७॥

वैकुण्ठवर्त्मसु श्रीभगवतः तल्लोकस्य वा मार्गभूतेषु महत्सु सेवा सङ्गादिरूपा अल्पतपसो भाग्यविशेष-हीनस्य जनस्य दुरापा यत्र यैरित्यर्थः; यद्वा, येषु विषयेष्वन्यैरपि सर्व्वैर्गीयते, अतस्तेषां सान्निध्यमात्रेणैव कृतार्थता, न चोपदेशापेक्षापीति भाव ; यद्वा, येषु निमित्तेषु यत्प्राप्त्यर्थमित्यर्थः, एवञ्च सत्सङ्गस्य स्वतः पुरुषार्थता सिद्धैव ॥२८८॥

अथ स्वतः परमपुरुषार्थता

प्रथमस्कन्ध में श्रीशौनकादि के वाक्य में एवं चतुर्थस्कन्ध में प्रचेतोगण की उक्ति में वर्णित है—हे भगवन् ! हम सब भगवत् सङ्गिगण के सङ्ग लेश के सहित स्वर्ग एवं मोक्ष की तुलना नहीं करते हैं, मनुष्य वाञ्छित तद्भिन्न विषयों की कथा तो दूर है ।।२८४।।

चतुर्थस्कन्ध में प्रचेतो के प्रति श्रीशिव का उपदेश यह है—मनुष्यों को राज्यादि वैभव की बात तो दूर रहे, भगवद् सङ्गीगण के क्षणार्द्ध सङ्ग के सहित स्वर्ग अथवा मोक्ष की तुलना नहीं होती है ।।२८५।।

द्वादशस्कन्ध के मार्कण्डेयोपाख्यान में श्रीशिव का कथन इस प्रकार है—हे देवि ! तो भी तुम्हारे अनुरोध से मैं इनसे सम्भाषण करूँगा । कारण, साधुसमागम ही सबके पक्ष में परम लाभ है ।।२८६।।

अतएव हरिभक्ति सुधोदय में श्रीप्रह्लाद के प्रति श्रीवसुमति की उक्ति इस प्रकार है—त्वादृश भक्त-दर्शन ही नयनयुगल का एकमात्र फल है, त्वादृश भक्तगण का एकमात्र सङ्ग ही देह धारण का फल है, एवं त्वादृश भक्तगण के नामकीर्त्तन ही जिह्वा का फल है, संसार के मध्य में भगवद्भक्तगण ही परम दुर्लभ हैं ।

श्रीविदेहेनाप्येकादशस्कन्धे (२।२९)—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः। तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥२८९॥

अतएव हि प्रार्थितं श्रीध्रुवेण चतुर्थस्कन्धे (९।११)—

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो, भूयादनन्त महताममलाशयानाम्।
येनाञ्जसोल्वणमुरुव्यसनं भवाब्धिं, नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ॥२९०॥

प्रचेतसः प्रत्युपदेशे श्रीशिवेन च (श्रीभा ४।२४।५८)—

अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्त्तितीर्थयो,-रन्तर्व्वहिःस्नानविधूतपाप्मनाम्।
भूतेष्वनुक्रोश-सुसत्त्वशीलिनां, स्यात् सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव ॥२९१॥

बहवो देहा भवन्ति येषां ते देहिनो जीवास्तेषां क्षणभङ्गुरोऽपि मानुषो देहो दुर्ल्लभः, परमपुरुषार्थ-साधनत्वात्। वैकुण्ठः प्रियो येषां वैकुण्ठस्य वा प्रियास्तेषां दर्शनमपि, किमुत सङ्गादिकम् ॥२८९॥

भक्तिं त्वयि प्रवहतां सातत्येन कुर्व्वताम्, अतएवामलाशयानां प्रसङ्गो मे मया सह भूयात्। ननु मोक्षं किं न याचसे? अत आह—येन महत्प्रसङ्गेन अञ्जसा अयत्नत एव, उरूणि व्यसनानि यस्मिन् तत्, नेष्ये पारं गमिष्यामि। भगवद्गुणकथैवामृतं, तस्य पानेन मत्तः सन्; अत्र मत्त-शब्देनैवं सूच्यते—यथा मदिरामत्तो न जानाति कथं रात्रिर्गता, दिनमायातं वेति, तथा सत्सङ्गजातकथामृतपानमत्तोऽपि न जानाति कथं ससारोऽपगतः, मोक्षो वा जात इति। एवममृतपानस्य यथा देहगेहाद्यननुसन्धानं न फलं, किन्तु परममधुर-रसास्वादनादिकमेव, तथा सत्सङ्गस्य भगवत्कथामृतपानमेव फलं, मोक्षस्त्वानुषङ्गिकः स्वयमेवोपस्थास्यति, किन्तद्याचनेनेति भावः ॥२९०॥

अथ अतो हेतोः, अनघौ अघहरावङ्घ्री यस्य तस्य तव कीर्त्तिर्यशः तीर्थं गङ्गा तयोः क्रमेणान्तर्व्वहिः-स्नानाभ्यां विधूतः विनाशितः पाप्मा येषामन्येषामपि यैरिति वा; अतएव भूतेषु अनुक्रोशः कृपा सुसत्त्वञ्च रागादिरहितं चित्तं शीलं चार्ज्जवादि, तद्वतां सङ्गोऽस्मासु अस्तु। एष एव नोऽस्मान् प्रति त्वदनुग्रहः ॥२९१

अतएव तृतीयस्कन्ध में विदुर कहे हैं—जो महद् व्यक्तिगण, सर्वदा देवदेव जनार्दन के गुण कीर्त्तन करते हैं, वे सब भगवान् अथवा तदीय लोक वैकुण्ठधाम के वर्त्मस्वरूप हैं, उन सबकी सेवा अल्पतया व्यक्तिगण के पक्ष में अनायास लभ्य नहीं है ॥२८७-२८८॥

एकादशस्कन्ध में विदेह का वाक्य यह है—देहिगण के मध्य में यह क्षणभङ्गुर मनुष्य देह दुर्लभ है। उसके मध्य में विष्णुभक्तगण का दर्शन सुदुर्लभ है ॥२८९॥

अतएव चतुर्थस्कन्ध में श्रीध्रुव की प्रार्थना यह है—हे अनन्त! मेरी प्रार्थना यह है कि, जो विमल मति महापुरुषगण आपके प्रति सर्वदा भक्ति करते हैं, भवदीय कथा श्रवण हेतु उनके सहित जैसे मेरा प्रसङ्ग हो। कारण, महत् सङ्ग लाभ होने से ही मैं आपके कथामृत पान से विभोर होकर बिना यत्न से ही इस भयङ्कर विपद्सङ्कुल संसार समुद्र से पार होने में समर्थ होऊँगा ॥२९०॥

प्रचेतोगण के प्रति श्रीशिवोपदेश यह है—हे प्रभो! मेरे प्रति आपका यह अनुग्रह हो कि, त्वदीय कीर्त्ति गान एवं गङ्गा एतदुभय में अन्तर्वहिः स्नान के द्वारा जिनके क्रमशः अन्तः (मनोगत) वहिः (देहगत) पातक विधूत हुये हैं, जो दयालु, रागादिशून्य, आर्ज्जवादि गुणविशिष्ट हैं, उन सब साधुशील मानवों के सहित मेरा समागम हो ॥२९१॥

श्रीप्रचेतोभिश्च (श्रीभा ४।३०।३३)—

यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्म्मभिः। तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे ॥२८२

श्रीप्रह्लादेनापि सप्तमस्कन्धे (श्रीभा ६।२४)—

तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषोऽज्ञ, आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्चात्।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण, कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम् ॥२८३॥ इति।

अथासत्सङ्गदोषाः

असद्भिः सह सङ्गस्तु न कर्त्तव्यः कदाचन।
यस्मात् सर्व्वार्थहानिः स्यादधःपातश्च जायते ॥२८४॥

श्रीकात्यायन-वाक्ये—

वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः। न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम् ॥२८५॥

स्पृष्टा व्याप्ताः सन्तो वयं कर्म्मभिर्यावदिह प्रपञ्चमध्ये भ्रमामस्तावद्भवति प्रकृष्टः सङ्गो येषां तेषां सङ्गोऽस्माकं जन्मनि जन्मनि स्यात्। यावद्भ्रमामस्तावदिति श्रीवैकुण्ठलोकप्राप्तौ स्वत एव भगवद्भक्तानां सङ्गसिद्धेः; यद्वा, यावत् कर्म्मभिर्भ्रमामः मायया अस्पृष्टा मुक्ता वा भवामः। एवं भवे संसारे अभवे च मोक्षे सङ्गः स्यात्; अन्यत् समानम् ॥२८२॥

यस्मात् लोकप्रार्थ्याः स्वर्गिणामायुरादयो विभवा मत्पितृक्रोध-भ्रूक्षेपेणैव विनष्टास्तस्मात् आशिषः भोगान्, ऐन्द्रियमिन्द्रियैर्भोग्यं, ब्रह्मणो भोग्यमभिव्याप्य किमपि नेच्छामि; यतो ज्ञस्तत्परिपाकं विद्वान् नश्वरत्वादित्यर्थः। ते कालात्मना कालरूप-स्वरूपेण उरुविक्रमेण विलुलितान् अणिमादीनपि; यद्वा, कालात्मना अविलुलितान् अस्पृष्टान् अर्थान् सालोक्य-सारूप्य-सामीप्य-सायुज्यलक्षणानपि नेच्छामि। तर्हि किमिच्छसीत्यत आह- उपनयेति। परमफलरूपस्त्वद्भक्तसङ्गमो यत्र कुत्रापि भूयात्, तत्र मम स्थानाद्याग्रहो नास्तीति भावः ॥२८३॥

एवं सत्सङ्गसेवनमुपपाद्य तस्यैव दार्ढ्यायासत्सङ्गवर्ज्जनं लिखति—असद्भिरिति। सर्व्वेषामैहिकानामामुष्मिकाणाञ्च अर्थानां साधनानां साध्यानाञ्च हानिः क्षयः स्यात्, न च तावदेव, किन्तु अधःपातः नरकादिभोगश्च जायते ॥२८४॥

विशेषेण अवस्थितिर्निवासः। शौरिः श्रीकृष्णस्तस्य चिन्ताया अपि विमुखो यो जनस्तेन संवासः सहवास एव वैशसं पीड़ा तु नैव सोढ़व्यमित्यर्थः, लोकद्वये स्वकुलस्याप्यनर्थावहत्वात् ॥२८५॥

श्रीप्रचेतोगण की उक्ति यह है—हे प्रभो! भवदीय माया स्पृष्ट होकर हम सब जब तक इस संसार में विचरण करते रहेंगे तब तक प्रति जन्म में भवदीय सङ्गीगणों का समागम मिले ॥२८२॥

सप्तमस्कन्ध में श्रीप्रह्लाद की उक्ति इस प्रकार है—हे प्रभो! भोगावसान में देहधारियों के भाग्य में जो जो होता है, उसको मैं विशेष रूप से जानता हूँ। अतएव आयुः श्री, विभव, ब्रह्मा का भोगपर्य्यन्त इन्द्रिय भोग्य विषय किंवा अणिमादि सिद्धि. किसी में मेरी कामना नहीं है। कारण सुस्पष्ट लक्षित होरहा है कि—आप स्वयं महाविक्रमशाली कालस्वरूप होकर इन सबको विनष्ट करते हैं, अतएव इतनी प्रार्थना ही करता हूँ आप निज किङ्करों के समीप में मुझको ले जाइये ॥२८३॥

अथासत्सङ्गदोषाः

कभी भी असज्जनों का सङ्ग न करे, क्योंकि उससे अर्थक्षय एवं सद्यः पतन होता है ॥२८४॥

कात्यायन की उक्ति यह है—अग्निशिखारूप पिञ्जराभ्यन्तर में वास करना भी श्रेष्ठ है किन्तु श्रीकृष्ण-चिन्ता विमुखजन के सहित सङ्ग रूप क्लेश भोगना जैसे न पड़े ॥२८५॥

पाद्मे उत्तरखण्डे श्रीउमामहेश्वर-संवादे—

अवैष्णवास्तु ये विप्राश्चाण्डालादधमाः स्मृताः ।
तेषां सम्भाषणं स्पर्शं सोमपानादि वर्ज्जयेत् ॥२६६॥

तृतीयस्कन्धे श्रीकपिल-देवहूति-संवादे (३१।३३-३५)—

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम् ॥२६७॥

तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु योषित्क्रीड़ामृगेषु च । सङ्गं न कुर्य्याच्छोच्येषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ॥२६८
न तथास्य भवेद्वन्धो मोहश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥२६९

एकादशे च श्रीभगवदुद्धव-संवादे (२६।३) —

सङ्गं न कुर्य्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् । तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगोऽन्धवत् ॥३००

भगवद्भक्तिहीना ये मुख्याऽसन्तस्त एव हि ।
तेषां निष्ठा शुभा क्वापि न स्यात् सच्चरितैरपि ॥३०१॥

कथञ्चित् सम्भाषणे सत्यपि स्पर्शं वर्ज्जयेत्, कथञ्चित् स्पर्शे सत्यपि सोमपानं वर्ज्जयेदित्यर्थः । आदिशब्देन सहवासान्नभक्षणादि ॥२६६॥

शमोऽन्तःकरणोपरतिः, दमो वाह्येन्द्रियसंयमः, भगः भाग्यम्, योषितां क्रीड़ामृगवदधीनेषु । खण्डितात्मसु देहात्मबुद्धिषु अस्थिरचित्तेष्विति वा, अतएव शोच्येषु निन्द्येषु ॥२६७-२६८॥

अत्र च योषितां योषिदासक्तानाञ्च सङ्गोऽवश्यं त्याज्य इत्याह—न तथेति । यथा च योषित्सङ्गिनां सङ्गतो बन्धो मोहश्च, तथा अन्यप्रसङ्गतो न भवेत् ॥२६९॥

असतां लक्षणमाह—शिश्नोदरे तर्पयन्तीति शिश्नोदरतृपस्तेषां क्वचित् कदाचिदपि । आस्तां तावत्ता-दृशानां बहूनां सङ्गः, तस्यैव कस्याप्यनुगः अनुवर्त्ती, अन्धमनुगच्छति योऽन्धस्तद्वत् ॥३००॥

यद्यपि योषिदासक्ताः शिश्नोदरतर्पणपरा एवासन्तो निर्द्दिष्टाः, तथाप्यभक्ता एवासत्सु मुख्याः भगवद्भक्त्यभावेन सर्व्वदोषाश्रयत्वात्; अतस्तेषां कथञ्चित् कुत्रापि शुभं न स्यादिति सत्सङ्गति-दार्ढ्यायैव लिखति—भगवद्भक्तीति । मुख्याश्च ते असन्तश्च परमासाधव इत्यर्थः; निष्ठा गतिः प्राप्यमित्यर्थः ॥३०१॥

पद्मपुराण के उत्तर खण्ड के उमा-महेश्वर-संवाद में लिखित है—अवैष्णव ब्राह्मणों के सहित सम्भाषण, उनको स्पर्श, उनके सहित एकत्र सोम पानादि न करे । कारण, वे सब चाण्डाल से भी निकृष्ट होते हैं॥२६६

तृतीयस्कन्ध के श्रीकपिल-देवहूति-संवाद में वर्णित है—हे मातः ! असत् सङ्ग सर्वथा अहितकर है । तद्द्वारा सत्य, शौच, दया, मौन, मति, ह्री, श्री, कीर्त्ति, क्षमा, शम, दम, ऐश्वर्य्य प्रभृति विनष्ट होते हैं । एतज्जन्य इन सब मूर्ख, अशान्त, स्त्रियों के क्रीड़ामृग स्वरूप, निन्दनीय, देहात्मबुद्धि सम्पन्न असत् व्यक्ति के सहित सङ्ग करना कभी उचित नहीं है । असाधु मानव सङ्ग व्यतीत योषित् सङ्ग एवं योषित् सङ्गी का सङ्ग भी अतिशय अनिष्टकर है । इन दोनों के सङ्गवशतः मोह एवं बन्धन यद्रूप होता है तद्रूप अन्य सङ्ग से नहीं होता है ॥२६७-२६९॥

एकादशस्कन्ध के श्रीउद्धव-संवाद में वर्णित है—शिश्नोदर परायण असत् मानव का सङ्ग करने पर अन्ध का अनुगामी अन्ध के समान अन्धतम कूप में गिरना पड़ता है, अतएव उन सबका सङ्ग न करे ॥३००

जो मानव, भगवद्भक्ति विमुख हैं, वे सब ही असाधु प्रधान हैं, सदाचार निष्ठ होने पर भी कभी उनकी सद्गति नहीं होती है ॥३०१॥

अथासतां निष्ठा

बृहन्नारदीये प्रायश्चित्तप्रकरणान्ते—

किं वेदैः किमु वा शास्त्रैः किमु तीर्थतिषेवणैः ।
विष्णुभक्ति-विहीनानां किं तपोभिः किमध्वरैः ॥३०२॥

श्रीगारुड़े—

अन्तं गतोऽपि वेदानां सर्व्वशास्त्रार्थवेद्यपि । यो न सर्व्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम् ॥३०३

तृतीयस्कन्धे (९-१०) श्रीब्रह्मस्तुतौ—

अह्न्यापृतार्त्तकरणा निशि निःशयाना, नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः ।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देवा, युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥३०४॥

अतएवोक्तं षष्ठे(१।१८) —

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् ।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः ॥३०५॥

वेदादिभिः किम् ? अपि तु न किमपि फलमित्यर्थः । सर्व्वेषां सत्कर्म्मणां भगवद्भक्तिसाधनत्वात् तदभावे च वैयर्थ्यापत्तेः; तदुक्तम्—'धर्म्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्' (श्रीभा १।२।८) इत्यादि ॥३०२॥

विवेकिनोऽप्यभक्ताश्चेत् सदा संसारदुःखाद्यनुभवन्त्येवेत्याह—अह्नीति । दिवसे आपृतानि च तानि आर्त्तानि च क्लिष्टानि करणानि इन्द्रियाणि येषाम्; रात्रावपि सुखलवो नास्ति, यतो निःशयानाः स्वप्नदर्शनेन च क्षणे क्षणे भग्ननिद्राः, दैवेन आहताः सर्व्वतः प्रतिहताः अर्थरचनाः अर्थार्थोद्यमा येषाम् ॥३०४॥

चीर्णानि कृतान्यपि न निष्पुनन्ति, न शोधयन्ति, महतामप्यशोधकत्वे दृष्टान्तः—सुराकुम्भमिवापगा इवेति ॥३०५॥

अथासतां निष्ठा

बृहन्नारदीय पुराण के प्रायश्चित्त प्रकरण के अन्त में लिखित है—जो मानव, विष्णुभक्ति विहीन हैं, उनको वेद, शास्त्र, तीर्थसेवा, विपुल तपस्या एवं यज्ञानुष्ठान से क्या फल होगा ?॥३०२॥

श्रीगरुड़पुराण में लिखित है—सर्वेश्वर श्रीकृष्ण के प्रति भक्तिमान् न होने से, सर्व वेद पारदर्शी एवं सर्व शास्त्रार्थवेत्ता भी पुरुषाधम में गण्य होता है ।।३०३॥

तृतीयस्कन्ध की श्रीब्रह्म-स्तुति में वर्णित है—हे प्रभो ! विवेकिगण भी अभक्त होने से दुर्गति ग्रस्त होते हैं । आपके प्रति भक्तिविमुख ऋषिगण एवं देवगण को भी भवयन्त्रणा भोगना पड़ता है । दिवस में इन्द्रियग्राम विविध विषय में व्यापृत होने पर जो क्लेश प्राप्त होता है, उससे रात्रि में निद्रावस्था में भी सुखोदय नहीं होता है, एवं दुरदृष्टवशतः अर्थोपार्जन उद्यम भी प्रतिहत होता है, तज्जन्य विवेकी को भी आपके प्रति भक्ति करना एकान्त कर्त्तव्य है ।।३०४।

अतएव षष्ठ स्कन्ध में वर्णित है—हे नृपते ! भक्ति ही पवित्रता विधान करने में सक्षम है, यद्रूप नदी समूह सुराभाण्ड को पवित्र करने में अक्षम हैं, तद्रूप यथानुष्ठित महाप्रायश्चित्त भी नारायण पराङ्मुख जन को पवित्र करने में असमर्थ है ।।३०५॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

कुतः पापक्षयस्तेषां कुतस्तेषाञ्च मङ्गलम् । येषां नैव हृदिस्थोऽयं मङ्गलायतनो हरिः ॥३०६

अतएव बृहन्नारदीये लुब्धकोपाख्यानारम्भे—

हरिपूजाविहीनाश्च वेदविद्वेषिणस्तथा । द्विजगो-द्वेषिणश्चापि राक्षसाः परिकीर्त्तिताः ॥३०७

अतएव निजदूतान् प्रति धर्म्मराजस्यानुशासनं षष्ठस्कन्धे (३।२८-२९)—

तानानयध्वमसतो विमुखान् मुकुन्द,-पादारविन्दमकरन्दरसादजस्रम् ।
निष्किञ्चनैः परमहंसकुलैरसङ्गैः,-र्जुष्टाद्गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान् ॥३०८॥
जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं, चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि, तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥३०९॥

मङ्गलम् ऐहिकामुष्मिकश्रेयः, हृदिस्थोऽपि न स्यात्, मनसापि न चिन्त्यत इत्यर्थः ॥३०६॥

हरिपूजाविहीनत्वादेव वेदादिविद्वेषिणो राक्षसाश्च परिकीर्त्तिताः ॥३०७।

असतो दुष्टान् तानेवाह—मुकुन्दपदारविन्दयोर्मकरन्दरूपो रसः भक्तिलक्षणस्तस्माद्विमुखान्। कथम्भूतान्? रसज्ञैः भक्तिसुखाभिज्ञैः रसविवेकिभिर्वा परमहंसकुलैः, अतएव निष्किञ्चनैः अभिमानशून्यैर्निरपेक्षैर्वा, अजस्रं जुष्टान् सेवितान्; यद्वा, अजस्रं विमुखानिति सम्बन्धः। तादृशे महारसे सकृत् क्षणमपि येऽभिमुखा न भवन्ति, तानित्यर्थः। असतां ज्ञापकमाह—निरयवर्त्मनि स्वधर्म्मशून्ये गृहे अनिवेदितभोगादौ वा बद्धास्तृष्णा यैस्तान् दण्डार्थमिहानयध्वम्; एवं तेषां लक्षणं निष्ठा चोक्ता ॥३०८॥

किञ्च, यत् येषां जिह्वेत्याद्यन्वयः, न कृतं विष्णुकृत्यं भगवद्व्रतम् एकादश्युपवास-कार्त्तिकनियमादि यैस्तांश्च एकदापीत्यस्य पूर्व्ववाक्यद्वये सम्बन्धः। अपि-शब्दस्यापि सर्व्वत्रानुषङ्गः। ततश्चायमर्थः—जिह्वापि गुणकृत-नामधेयं दीनवत्सल इत्यादिकमपि न वक्तीति यथा कथञ्चिदेव नामोच्चारणम्, तच्च निजार्त्तादि-हेतुनापि, न त्वर्थानुसन्धानपूर्व्वकं श्रद्धया श्रीकृष्णस्य नाम सम्यगुच्चारणं करोतीत्यर्थः। एवं चेतोऽपि तच्चरणारविन्दमपीति यथाकथञ्चिन्मनोमात्रेणैवाङ्गस्य स्पर्शनं, न तु सर्व्वाङ्गस्य, श्रीमच्चरणारविन्दयोर्वा सम्यक् ध्यानम्; तथा शिरोऽपि कृष्णायापीति, शिरोभिर्नमनमात्रेण वन्दनं, तच्च कृष्णोद्देशेन यं कञ्चिदप्यालक्ष्येति, न तु सर्व्वाङ्गैः साक्षात् श्रीमूर्त्त्यादिकं वेति। एवं कथञ्चिदपि श्रीकृष्णभक्तिसम्बन्धहीना ये तानेवानयध्वमिति। अतएव जिह्वादि-शब्दप्रयोगः, अन्यथा जिह्वादीनामेव वचनादि-व्यापारात् पुनस्तत्तच्छब्दप्रयोगस्य वैयर्थ्यापत्तेरिति दिक् ॥३०९॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—जिनके हृदय में मङ्गल श्रीहरि का अधिष्ठान नहीं है, उनका कल्याण कहाँ है ? अथवा पाप क्षय भी कहाँ है ?॥३०६॥

अतएव बृहन्नारदीय पुराण के लुब्धकोपाख्यान के आरम्भ में लिखित है—हरिपूजा पराङ्मुख, वेद विद्वेषी, द्विज गो विद्वेषी व्यक्तिगण राक्षस नाम से अभिहित हैं ॥३०७॥

अतएव षष्ठस्कन्ध के निज दूतगण के प्रति धर्मराजानुशासन प्रसङ्ग में वर्णित है—हे दूतगण ! जो मानव, अकिञ्चन रसज्ञ परमहंस कुल कर्त्तृक निरन्तर सेवित हरि-पाद-पद्म का मधुर रसपान में विमुख हैं, एवं नरक-मार्ग स्वरूप गृह में बद्धतृष्ण हैं, उन असाधु मानववृन्द को मेरे पास ले आना ॥३०८॥

जिनकी जिह्वा एक बार भी भगवान् के गुण कीर्त्तन अथवा नामोच्चारण नहीं करती है, जिनका मन, एक बार भी भगवच्चरण कमल का स्मरण नहीं करता है, जिनका मस्तक एक बार भी श्रीकृष्ण पादपद्म में अवनत नहीं होता है, एवं जिनके द्वारा भगवत् व्रत का अनुष्ठान नहीं हुआ है, उन सब असाधु मनुष्यों को मेरे समीप में ले आना ॥३०९॥

अथ श्रीवैष्णवनिन्दादिदोषः

स्कान्दे मार्कण्डेयभगीरथ-संवादे—

यो हि भागवतं लोकमुपहासं नृपोत्तम । करोति तस्य नश्यन्ति अर्थधर्म्मयशःसुताः ॥३१०॥

निन्दां कुर्व्वन्ति ये मूढ़ा वैष्णवानां महात्मनां ।

पतन्ति पितृभिः सार्द्धं महारौरवसंज्ञिते ॥३११॥

हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नाभिनन्दति । क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट् ॥३१२॥

तत्रैवामृतसारोद्धारे श्रीयमोक्तौ —

जन्मप्रभृति यत्किञ्चित् सुकृतं समुपार्ज्जितम् ।

नाशमायाति तत् सर्व्वं पीड़येद्यदि वैष्णवान् ॥३१३॥

द्वारकामाहात्म्ये प्रह्लादबलि-संवादे—

करपत्रैश्च फाल्यन्ते सुतीव्रैर्यमशासनैः । निन्दां कुर्व्वन्ति ये पापा वैष्णवानां महात्मनाम् ॥३१४

पूजितो भगवान् विष्णुर्जन्मान्तरशतैरपि । प्रसीदति न विश्वात्मा वैष्णवे चापमानिते ॥३१५

दशमस्कन्धे (७४।४०) च—

निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा ।

ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः ॥३१६॥

असतां निष्ठामेव विशेषतो दर्शयन् तेषु चासत्सु मध्ये वैष्णवविषयकापराधिनोऽसत्तममुख्या इत्यभिप्रेत्य तेषाञ्च निष्ठादिकं पूर्व्वतो विशेषेण पृथक् लिखति—यो हीत्यादिना अच्युत इत्यन्तेन ॥३१०॥

भागवतं प्रति, हन्ति प्रहरति, दर्शने सत्यपि हर्षं न याति नाप्नोति—एतानि षट् पतनानि पातित्यापादकानि नरकावहानीत्यर्थः ३१२॥

अस्तु तावत् वैष्णवनिन्दाकारिणां परमानर्थः, वैष्णवनिन्दाश्रोतॄणामपि महानरकं स्यादिति लिखति—निन्दामिति । ततस्तस्मात् निन्दाश्रवणात् तत्स्थानाद्वा, सुकृतात् पूर्व्वपूर्व्वकृतादपि पुण्याद्भ्रष्ट सन् अधो यातीति किं वक्तव्यमित्यपि-शब्दार्थः ॥३१४-३१६॥

अथ श्रीवैष्णवनिन्दादिदोषः

स्कन्दपुराण के मार्कण्डेय-भगीरथ-संवाद में लिखित है—हे राजेन्द्र ! भगवद्भक्त को उपहास करने से धर्म, अर्थ, कीर्त्ति एवं सन्तति का नाश होता है । महात्मा वैष्णववृन्द की निन्दा करने वाले मूढ़ मानवगण पितृगण के सहित महारौरव नरक में निपतित होते हैं । जो मानव, वैष्णवगण को प्रहार, निन्दा, द्वेष अथवा अनादर करते हैं, प्रत्युत उनके प्रति क्रोध प्रकाश करते हैं, उन सबको देखकर हर्षित नहीं होते हैं, वे सब निरयगामी होते हैं । यह छे नरक पतन के कारण हैं ॥३१०-३१२॥

उक्त पुराण के अमृतसारोद्धार में श्रीयमोक्ति यह है—वैष्णववृन्द को प्रपीड़ित करने से आजन्म सञ्चित पुण्य सकल विनष्ट होते हैं ॥३१३॥

द्वारकामाहात्म्य के प्रह्लाद-बलि-संवाद में वर्णित है—महात्मा वैष्णववृन्द की निन्दा करने से यमदूतगण सुशाणित करपत्र के द्वारा उक्त पापीवृन्द को विदीर्ण करते हैं । शत-शत जन्म अर्चित होने से भी विश्वात्मा भगवान् हरि, वैष्णवापमानकारी के प्रति प्रसन्न नहीं होते हैं ॥३१४-३१५॥

दशमस्कन्ध में लिखित है—जो मानव, भगवान् अथवा भगवद्भक्त की निन्दा को सुनकर वहाँ से स्थानान्तर में गमन नहीं करते हैं, उनको भी सुकृत भ्रष्ट होकर निरय में पतित होना पड़ता है ॥३१६॥

अतएवोक्तं श्रीविष्णुधर्म्मोत्तरे—

जीवितं विष्णुभक्तस्य वरं पञ्चदिनानि च । न तु कल्पसहस्राणि भक्तिहीनस्य केशवे ॥३१७

अतएवोक्तं श्रीभागवते ऐलपाख्यानान्ते (११।२६।२६ —

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः ॥३१८॥

अथ श्रीभगवद्भक्तान् सल्लक्षणविभूषितान् । गत्वा तान् दूरतो दृष्ट्वा दण्डवत् प्रणमेन्मुदा ॥३१९

अथ श्रीवैष्णवसमागम-विधिः

तेजोद्रविणपञ्चरात्रे—

वैष्णवो वैष्णवं दृष्ट्वा दण्डवत् प्रणमेद्भुवि । उभयोरन्तरा विष्णुः शङ्खचक्रगदाधरः ॥३२०॥

तत्र च विशेषो बृहन्नारदीये—

सभायां यज्ञशालायां देवतायतनेष्वपि । प्रत्येकन्तु नमस्कारो हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥३२१॥
पुण्यक्षेत्रे पुण्यतीर्थे स्वाध्यायसमये तथा । प्रत्येकन्तु नमस्कारो हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥३२२॥

अतो भगवद्भक्तिहीनस्य सद्य एव मरणं श्रेयः, चिरजीवनं च महानर्थायैवेत्याशयेन लिखति—जीवितमिति ॥३१७॥

सन्तो भगवद्भक्ता एव, न तु कर्म्मज्ञानादिपराः, मनसो व्यासङ्गं गृहाद्यासक्तिं कामादिसम्बन्धं वा, उक्तिभिः हितोपदेशैः ॥३१८॥

सद्भिरुत्तमैस्तप्तमुद्राधारणादिभिर्लक्षणैर्विभूषितान् ॥३१९॥

वैष्णवो वैष्णवं दृष्ट्वा प्रणमेदिति द्वयोरन्योऽन्यमेव प्रणामोऽभिप्रेतः, अतएव तयोरुभयोर्मध्ये विष्णुर्भवति तिष्ठतीत्यर्थः। यच्च कौर्म्मे व्यासगीतायाम्—'न कुर्य्याद्योऽभिवाद्यस्य द्विजः प्रत्यभिवादनम् । नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥' इति प्रत्यभिवादनमात्रमुक्तम्, तच्च स्मार्त्तजनपरमिति ज्ञेयम् । यद्वा, अभिवादन-प्रत्याभिवादनाभ्यां प्रणाम प्रतिप्रणामवाचिभ्यामन्योऽन्यनमस्कार एवाभिप्रेत इति ॥३२०॥

तत्र च सर्व्वान् सभास्थितान् श्रीवैष्णवान् एकत्रैव प्रणमेन्न तु प्रत्येकमिति लिखति—सभायामिति ॥३२१

अतएव विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—विष्णुभक्त होकर पाँच दिन जीवित रहना भी श्रेष्ठ है, किन्तु केशव के प्रति भक्तिहीन होकर सहस्र कल्प पर्य्यन्त जीवित रहने का भी प्रयोजन नहीं है ॥३१७॥

अतएव श्रीमद्भागवत के ऐलोपाख्यान के अन्त में वर्णित है—दुःसङ्ग विसर्जनपूर्वक सत्सङ्ग में अनुरागी होना ही बुद्धिमान् का कर्त्तव्य है । कारण, साधुगण उपदेश द्वारा मन को गृहादि में आसक्ति को दूर करते हैं ॥३१८॥

अनन्तर तप्तमुद्रादि वैष्णवचिह्न से विभूषित वैष्णववृन्द को देखकर ही प्रसन्नतापूर्वक दण्डवत् निपतित होकर प्रणाम करे ॥३१९॥

अथ श्रीवैष्णवसमागम-विधिः

तेजोद्रविण पञ्चरात्र में लिखा है—वैष्णव को दर्शन करते ही भूतल में पतित होकर दण्डवत् प्रणाम करना वैष्णव का कर्त्तव्य है, क्योंकि—शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी हरि, दोनजनों के ही मध्य में स्थित रहते हैं ॥३२०॥

वैष्णव प्रणति विषय में व्यवस्था बृहन्नारदीय पुराण में इस प्रकार है—सभा, यज्ञायतन, देवालय, इन सब स्थानों में प्रत्येक व्यक्ति को पृथक् पृथक् प्रणाम करने से पूर्व सञ्चित पुण्य ध्वंस होता है, एवं पुण्यक्षेत्र, पुण्यतीर्थ एवं वेदाध्ययन के समय प्रत्येक के प्रति भी भिन्न भिन्न प्रणाम पूर्व सञ्चित पुण्य विनष्ट करता है ।

वैष्णवञ्चागतं वीक्ष्याभिगम्यालिङ्ग्य वैष्णवम्।
वैदेशिकं प्रीणयेयुर्दर्शयन्तः स्ववैष्णवान् ॥३२३॥

तथा चोक्तं श्रीब्रह्मणा तेजोद्रविणपञ्चरात्रे—

नारायणाश्रयं भक्तं देशान्तरसमागतम्। प्रीणयेद्दर्शयंस्तस्य भक्त्या नारायणाश्रयान् ॥३२४॥
इति।

ततश्च वैष्णवः प्राप्तः सन्तर्प्य वचनामृतैः।
सद्बन्धुरिव सम्मान्योऽन्यथा दोषो महान् स्मृतः ॥३२५॥

अथ वैष्णवसम्मानन-नित्यता

स्कान्दे श्रीमार्कण्डेयभगीरथ-संवादे—

दृष्ट्वा भागवतं दैवात् सम्मुखे यो न याति हि। न गृह्णाति हरिस्तस्य पूजां द्वादशवार्षिकीम् ॥३२६
यो न गृह्णाति भूपाल वैष्णवं गृहमागतम्। तद्गृहं पितृभिस्त्यक्तं श्मशानमिव भीषणम् ॥३२७
अथवाभ्यागतं दूराद्यो नार्च्चयति वैष्णवम्। स्वशक्त्या नृपशार्द्दूल नान्यः पापरतस्ततः ॥३२८
श्रान्तं भागवतं दृष्ट्वा कठिनं यस्य मानसम्। प्रसीदति न दुष्टात्मा श्वपचादधिको हि सः ॥३२९॥
विप्रं भागवतं दृष्ट्वा दीनमातुरमानसम्। न करोति परित्राणं केशवो न प्रसीदति ॥३३०॥

एवं यात्रिकस्य कृत्यं लिखित्वा सभ्यानामपि कृत्यं लिखति—वैष्णवञ्चेत्यादिना पूजाभ्यधिकेत्यन्तेन। वैदेशिकं दूरदेशादागतञ्चेत्, स्वकीयान् वैष्णवान् दर्शयन्तः तत्तन्नामकथनादिना परिचयं कारयन्तः सन्तः॥ ३२३॥

दूरात् दूरदेशादभ्यागतम् ॥३२८॥

कठिनं स्नेहार्द्रं न स्यात्, न च प्रसीदति, अतः स एव दुष्टात्मा श्वपचादप्यधिकः परमाधम इत्यर्थः।

विदेशस्थ वैष्णव का आगमन दर्शनकर उनके समीप में उपस्थित होकर उनको आलिङ्गन करना चाहिये, एवं निजसङ्गी वैष्णव को नामोल्लेख द्वारा परिचय प्रदान कर उनको आनन्दित करावे ॥३२१-३२३॥

अतएव तेजोद्रविण पञ्चरात्र में श्रीब्रह्मा का वाक्य यह है—विदेश से समागत नारायणाश्रय भक्त को देखकर स्वीयनारायणाश्रय भक्तगण को दिखाकर भक्तिपूर्वक उनका प्रीति वर्द्धन करे ॥३२४॥

इस हेतु वैष्णव समागत होने से अमृतमय वचनों के द्वारा परितृप्त करके सद्बन्धु के समान सम्मान प्रदान करे, नहीं तो महादोष होता है ॥३२५॥

अथ वैष्णवसम्मानन नित्यता

स्कन्दपुराण के श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-संवाद में उक्त है—जो व्यक्ति अकस्मात् भगवद्भक्त को देखकर उनके सम्मुख में गमन नहीं करते हैं, भगवान् द्वादश वत्सर पर्य्यन्त उन व्यक्ति की पूजा ग्रहण नहीं करते हैं

हे राजन्! गृहागत वैष्णव को आदर पूर्वक ग्रहण न करने से, उस श्मशान सदृश भीषण गृह को पितृगण विसर्जन करते हैं। हे नृपश्रेष्ठ! दूरदेश से अभ्यागत वैष्णव को सामर्थ्यानुसार जो व्यक्ति पूजा नहीं करते हैं, उनकी अपेक्षा पापी और कोई नहीं है ॥३२६-३२८॥

हरिभक्त को श्रान्त देखकर जिसका कठिन चित्त प्रसन्न नहीं होता है, वह दुष्टात्मा श्वपच से भी अधिक निकृष्ट है ॥३२९॥

दीनभावापन्न कातर भगवद्भक्त विप्र को देखकर उसका उद्धार न करने पर, श्रीकेशव उसके प्रति अप्रसन्न होते हैं ॥३३०॥

दृष्ट्वा भागवतं विप्रं नमस्कारेण नार्च्चयेत् । देहिनस्तस्य पापस्य न च वै क्षमते हरिः ।।३३१।।

अपूजितो यदा गच्छद्वैष्णवो गृहमेधिनः । शतजन्मार्ज्जितं भूप पुण्यमादाय गच्छति ।।३३२।।

अनभ्यर्च्चर्य पितॄन् देवान् भुञ्जते हरिवासरे । तत् पापं जायते भूप वैष्णवानामतिक्रमे ।।३३३

पूर्व्वं कृत्वा तु सम्मानमवज्ञां कुरुते तु यः । वैष्णवानां महीपाल सान्वयो याति संक्षयम् ।।३३४

पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये यमब्राह्मण-संवादे—

वैष्णवं जनमालोक्य नाभ्युत्थानं करोति यः । प्रणयादरतो विप्र स नरो नरकातिथिः ।।३३५।।

चतुर्थस्कन्धे (२२।११) च—

व्यालालयद्रुमा ह्येतेऽप्यरिक्ताखिलसम्पदः । यद्गृहास्तीर्थपादीय-पादतीर्थविवर्ज्जिताः ।।३३६

अथ वैष्णव-स्तुतिः

स्कान्दे—

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं यद्यूयं गृहमागताः । दुर्ल्लभं दर्शनं नूनं वैष्णवानां यथा हरेः ।।३३७।।

मेरुमन्दरतुल्या वै पुण्यपुञ्जा मया कृताः । संप्राप्तं दर्शनं यद्वै वैष्णवानां महात्मनाम् ।।३३८।।

नमस्कारेणापि नार्च्चयेत् ।।३२९-३३१।।

हरिवासरे च ये भुञ्जते, तेषां यत् पापं तत्, अतिक्रमे अपूजनादिनापराधे सति ।।३३३।।

नरकातिथिः बहुल-नरकदुःखं चिरं भुङ्क्ते इत्यर्थः ।।३३५।।

व्यालानामालया द्रुमा एव, अरिक्ताः पूर्णाः अखिलाः सम्पदो येषु तादृशा अपि; यद्गृहा ये गृहाः तीर्थपादीया वैष्णवास्तेषां पादतीर्थेन पादोदकेन वा विवर्ज्जिताः ।।३३६।।

वचनामृतैः सन्तर्प्येति लिखितं, तान्येव लिखति—धन्योऽहमित्यादीनि सप्त । अत्र च धन्योऽहमित्यादिवचनपाठेन तदर्थनिर्व्वचनेन वा स्तुतिः कार्य्येति ज्ञेयम् ।।३३७।।

यत् यस्मात् येभ्यः पुण्यपुञ्जेभ्य इति वा ।।३३८।।

भगवद्भक्त विप्र को देखकर प्रणति पूर्वक पूजा न करने से श्रीहरि, उस पातकी व्यक्ति को कदाच क्षमा नहीं करते हैं। हे नृप ! वैष्णव अपूजित होकर गृह से प्रतिगमन करने से उस गृहस्थ का शत-जन्माजित पुण्य उस वैष्णव के सहित गमन करता है ।।३३१-३३२।।

हे राजन् ! वैष्णवगण को अतिक्रम करने से पितृ देवार्चन विमुख एवं हरिवासर में भोजनकारी के पाप से लिप्त होना पड़ता है ।।३३३।।

हे भूप ! प्रथम वैष्णवगण के प्रति सम्मान प्रदर्शन पूर्वक पश्चात् अवज्ञा करने से वंश के सहित विनष्ट होना पड़ता है ।।३३४।।

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में यम-ब्राह्मण-संवाद इस प्रकार है—हे विप्र ! वैष्णव को देखकर प्रीति एवं आदरपूर्वक अभ्युत्थान न करने से निरयपुर का अतिथि होना पड़ता है ।।३३५।।

चतुर्थस्कन्ध में वर्णित है—निखिल सम्पत्तिपूर्ण होने पर भी साधु-वैष्णव के चरणोदक वर्जित गृहसमूह भुजङ्गावास वृक्ष तुल्य होते हैं ।।३३६।।

अथ वैष्णव-स्तुतिः

स्कन्दपुराण में वर्णित है—मेरे घर में आपका शुभागमन होने से आज मैं धन्य एवं कृतकृत्य हुआ। श्रीहरिदर्शन के समान वैष्णव दर्शन भी निश्चय दुर्लभ है। मैंने अवश्य ही मेरु मन्दर के तुल्य राशि-राशि पुण्यार्जन किया हूँ, तज्जन्य ही महात्मा वैष्णववृन्द का दर्शन प्राप्त किया ।।३३७-३३८।।

दशमस्कन्धे श्रीगर्गाचार्य्यं प्रति श्रीनन्दस्य वाक्यम् (८।४)—

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम् । निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित् ।।३३६

चतुर्थस्कन्धे (२२।७, १०, १३-१४) सनकादीन् प्रति पृथुमहाराजस्य—

अहो आचरितं किं मे मङ्गलं मङ्गलायनाः ।
यस्य वो दर्शनं ह्यासीद्दुर्दर्शानां च योगिभिः ।।३४०।।

अधना अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः । यद्गृहा ह्यर्हवर्य्याम्बु-तृणभूमीश्वरावराः ।।३४१

कच्चिन्नः कुशलं नाथा इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम् ।
व्यसनावाप एतस्मिन् पतितानां स्वकर्म्मभिः ।।३४२।।

भवत्सु कुशलं प्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते । कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तयः ।।३४३।।

महतां स्वाश्रमादन्यत्र विचलनं गमनं न स्वार्थं, किन्तु गृहिणां मङ्गलाय । ननु तर्हि त एव महद्दर्शनार्थं किमिति नागच्छन्ति ? तत्राह—दीनचेतसां कृपणानां क्षणमपि गृहं त्यक्तुमशक्नुवतामित्यर्थः । यद्वा, गृहिणां निःश्रेयसाय महतां विचलनं भगवत्पूजापरतादिस्वधर्म्मत्यागेऽपि कल्पते योग्यं भवति । कुतः ? दीनचेतसां सदा परमार्त्तानामित्यर्थः । स्वार्थानपेक्षणात् न च क्वचित् कदाचिदपि, अन्यथा पूजाऽलाभादित्यर्थः ।।३३६

मङ्गलमयनं येषां हे मङ्गलायनाः, मया किं मङ्गलमाचरितम् ? यस्य मे योगिभिरपि दुर्दर्शानाम् ।।३४०

येषां साधूनां गृहाः अर्हाणां पूज्यानां वर्य्या वरणीयाः स्वीकारार्हाः, चर्य्येति पाठे आचरणयोग्याः अम्ब्वादयो येषु तादृशाः । अम्बु च तृणञ्च भूमिश्च ईश्वरो गृहस्वामी च अवराश्च भृत्यादयः ।।३४१।।

हे नाथाः, कच्चिदिति प्रश्ने । इन्द्रियार्थं विषयमेव अर्थं पुरुषार्थं ये विदन्ति तेषां नः, व्यसनानि उप्यन्ते यस्मिन् संसारे ।।३४२।।

ननु भागवतानामेव कुशलं पृच्छ्यते, न त्वात्मनस्तत्राह—भवत्स्विति । कुशला अकुशलाश्च मतेर्वृत्तयोऽपि येषां न सन्ति ।।३४३।।

दशमस्कन्ध में श्रीगर्गाचार्य्य के प्रति श्रीनन्दमहाराज का कथन इस प्रकार है—हे प्रभो ! गृहिवृन्द के कल्याण विधानार्थ महज्जनगण निजाश्रम से स्थानान्तर में गमन करते हैं, स्वार्थ निमित्त नहीं । गृहिगण अतीव कृपण हैं, मुहूर्त्त के निमित्त भी गृह त्याग करने में अक्षम हैं । महापुरुषगण कृपापूर्वक स्वयं गृहिवृन्द के गृह में आकर दर्शन प्रदान करते हैं । हे भगवन् ! एतद् व्यतीत गृहि गृह में आगमन का अपर कारण परिलक्षित नहीं होता है ।।३३६।।

चतुर्थस्कन्ध में सनकादि के प्रति पृथुमहाराज की उक्ति है-अहो ! महापुरुषवृन्द ! आप सब मङ्गलायन हैं, आपका दर्शन योगिवृन्द के पक्ष में भी दुर्लभ है, सुतरां मैंने ऐसा मङ्गलानुष्ठान क्या किया है, जिससे आपका दर्शन प्राप्त किया ।।३४०।।

अहो ! पूज्य व्यक्तिगण, जिनके गृह में उपस्थित होकर तृण, भूमि, गृहस्वामी एवं भृत्यवर्ग को स्वीकार करते हैं, निर्धन होने पर भी वह गृही निश्चय ही धन्यवादार्ह है ।।३४१।।

हे नाथ ! हम अपने-अपने कर्मफल से व्यसन के वपन क्षेत्र स्वरूप अर्थात् जहाँ केवल समस्त दुःख उत्पन्न होते हैं, इस संसार में पतित होकर इन्द्रिय ग्राम के रूप-रसादि विषय-सुख को परम पुरुषार्थ जानते हैं, अतएव हमारा कुशल कहाँ ? ।।३४२।।

हे महापुरुषगण ! आप सब मेरे घर में अभ्यागत हैं, अभ्यागत का कुशल पूछना गृही का कर्त्तव्य है । अपने निज कल्याण का पूछना अनुचित है, यह सत्य होने पर भी आप सब आत्माराम हैं, आत्मा में ही आप सबकी प्रीति है, सुतरां कुशल अथवा अकुशल प्रश्न निष्प्रयोजन है ।।३४३।।

अथ वैष्णवाभिगमन-माहात्म्यम्

स्कान्दे श्रीमार्कण्डेयभगीरथ-संवादे—

सम्मुखं व्रजमानस्य वैष्णवानां नराधिप । पदे पदे यज्ञफलं प्राहुः पौराणिका द्विजाः ॥३४४॥

अथ वैष्णवस्तुति-माहात्म्यम्

तत्रैव—

**प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा यः प्रशंसति वैष्णवम् । ब्रह्महा मद्यपः स्तेयी गुरुगामी सदा नृणाम् ।
मुच्यते पातकात् सद्यो विष्णुराह नृपोत्तम ॥३४५॥**

किञ्च—

प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा ये प्रशंसन्ति वैष्णवम् । प्रसादाद्वासुदेवस्य ते तरन्ति भवार्णवम् ॥३४६॥

अथ श्रीवैष्णव-सम्मानन-माहात्म्यम्

तत्रैवामृतसारोद्धारे—

श्रद्धया दत्तमन्नञ्च वैष्णवाग्निषु जीर्य्यति । तदन्नं मेरुणा तुल्यं भवते च दिने दिने ॥३४७॥
दैवे पैत्रे च यो दद्याद्वारिमात्रन्तु वैष्णवे । सप्तोदधिसमं भूत्वा पितॄणामुपतिष्ठति ॥३४८॥

एवं वैष्णवानामभिगमनं सम्माननं स्तुतिश्च लिखित्वा इदानीं तत्तन्माहात्म्यं लिखति—सम्मुखमित्यादिना नरा इत्यन्तेन ॥३४४॥

गुरुगामी गुरुतल्पगः, नृणां मध्ये, नर इति पाठो वा ॥३४५॥

यद्यपि यथालिखनक्रमं वैष्णवसम्मानन-माहात्म्यानन्तरमेव वैष्णवस्तुति-माहात्म्यं लिखितमुपयुज्यते, तथापि प्रथमं स्तुतिस्ततः सम्माननमित्यपेक्षया तथा सम्माननमाहात्म्यस्य बाहुल्याच्च तस्य पश्चाल्लिखनम् ॥३४६॥

सर्व्वदोषनिर्हारकत्वाद्वैष्णवा एवाग्नयस्तेषु जीर्य्यति, सुखं तैर्भुज्यते इत्यर्थः । हे विप्रेन्द्राः ॥३४७-३५१॥

अथ वैष्णवाभिगमन-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-संवाद में वर्णित है—हे नरपते ! पौराणिक द्विजगण कर्त्तृक उक्त है कि—जो मानव वैष्णव के सम्मुख में गमन करते हैं, उनको पद पद में यज्ञ का फल मिलता है ॥३४४॥

अथ वैष्णवस्तुति माहात्म्यम्

उक्त पुराण में लिखित है—हे नृपवर ! मनुष्यों के मध्य में निरन्तर ब्रह्महा, सुरापायी, सुवर्ण स्तेयी, एवं गुरुदारगामी होने पर भी साक्षात् अर्थात् परोक्ष में वैष्णव की प्रशंसाकारी मानव आशु पातक से उत्तीर्ण हो जाते हैं । यह कथन स्वयं श्रीविष्णु का है ॥३४५॥

और भी वर्णित है—प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष में जो व्यक्ति वैष्णव की प्रशंसा करते हैं, हरि की प्रसन्नता से वे भवसागर पार हो जाते हैं ॥३४६॥

अथ श्रीवैष्णव-सम्मानन-माहात्म्यम्

उक्त पुराण के अमृतसारोद्धार प्रस्ताव में लिखित है—वैष्णववृन्द के जठरानल में श्रद्धापूर्वक प्रदत्त अन्न जीर्णता को प्राप्त होने पर वह प्रतिदिन सुमेरु पर्वत के समान होता है । देव कार्य्य किंवा पितृ कार्य्य में वैष्णव को जल मात्र प्रदान करने से, वह जल सप्त समुद्र सदृश होकर पितृलोक के समीप में समाहृत होता है ॥३४७-३४८॥

विष्णुधर्म्मे —

किं दानैः किं तपोभिर्वा यज्ञैश्च विविधैः कृतैः ।
सर्व्वं सम्पद्यते पुंसां विष्णुभक्ताभिपूजनात् ॥३४९॥

पूजयेद्वैष्णवानेतान् प्रयत्नेन विचक्षणः । स्वशक्त्या वैष्णवेभ्यो यद्दत्तं स्यादक्षयं भवेत् ॥३५०॥

बृहन्नारदीये यज्ञमाल्युपाख्यानान्ते—

हरिभक्तिरतान् यस्तु हरिबुद्ध्या प्रपूजयेत् । तस्य तुष्यन्ति विप्रेन्द्रा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ॥३५१

हरिपूजारतानाञ्च हरिनामरतात्मनाम् । शुश्रूषाभिरता यान्ति पापिनोऽपि परां गतिम् ॥३५२

तत्रैव यज्ञध्वजोपाख्यानस्यारम्भे—

संसारसागरं तर्त्तुं य इच्छेन्मुनिपुङ्गवाः । स भजेद्धरिभक्तानां भक्तांस्ते पापहारिणः ॥३५३॥

तदन्ते च—

यो विष्णुभक्तान् निष्कामान् भोजयेत् श्रद्धयान्वितः ।
त्रिसप्तकुल-संयुक्तः स याति हरिमन्दिरम् ॥३५४॥

विष्णुभक्ताय यो दद्यान्निष्कामाय महात्मने । पानीयं वा फलं वापि स एव भगवान् हरिः ॥३५५

विष्णुपूजापराणान्तु शुश्रूषां कुर्व्वते हि ये । ते यान्ति विष्णुभवनं त्रिसप्तपुरुषान्विताः ॥३५६॥

देवपूजापरो यस्य गृहे वसति सर्व्वदा । तत्रैव सर्व्वदेवाश्च हरिश्चैव श्रियान्वितः ॥३५७॥

ते हरिभक्त-भक्ताः, पापं संसारदुःखं, तदपहारिणः ॥३५३॥ देवः श्रीकृष्णस्तस्य पूजापरः ॥३५७॥

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—दान, तपस्या और अनेक प्रकार यज्ञों के अनुष्ठान से क्या फल है ? हरि के भक्तों की पूजा करने से सभी सम्पत्ति प्राप्त होती है, सुतरां यत्नपूर्वक वैष्णववृन्द की पूजा करना सुधीजन का एकान्त कर्त्तव्य है । निज सामर्थ्यानुसार वैष्णववृन्द को जो कुछ प्रदत्त होता है, वह अक्षय फलद होता है ॥३४९-३५०॥

बृहन्नारदीय पुराण के यज्ञमाली उपाख्यान के अन्त में वर्णित—हे विप्रवर ! विष्णुभक्ति निष्ठ वैष्णवगण की पूजा श्रीहरि बुद्धि से करने पर ब्रह्मा, विष्णु एवं श्रीशिव प्रभृति प्रसन्न होते हैं ॥३५१॥

हरि पूजानिष्ठ, हरिनाम परायण वैष्णववृन्द की पूजा करने पर पातकी व्यक्ति भी परमागति को प्राप्त करते हैं ॥३५२॥

उक्त पुराण के यज्ञध्वजोपाख्यान के प्रारम्भ में वर्णित है— हे मुनिश्रेष्ठगण ! भवसागर से उत्तीर्ण होने के इच्छुक जनगण, के पक्ष में हरिभक्तगण की उपासना श्रेयस्कर है, वैष्णववृन्द पापापहारक होते हैं ॥३५३

उक्त उपाख्यान के अन्त में वर्णित है, जो मानव, श्रद्धापूर्वक निष्काम भक्तगण को भोजन कराते हैं, वे एकविंशति कुल के सहित हरि-मन्दिर में निवास करते हैं ॥३५४॥

जो मानव, निष्काम महात्मा विष्णुभक्त को पानीय अथवा फल दान करते हैं, वे श्रीभगवान् हरि के सदृश होते हैं ॥३५५॥

जो व्यक्ति, विष्णुभक्तिनिष्ठ व्यक्तिवृन्द की सेवा करते हैं, वे एकविंशति कुल के सहित विष्णुधाम गमन करते हैं ॥३५६॥

जिनके भवन में श्रीकृष्ण पूजा-परायण वैष्णव, सर्वदा निवास करते हैं, वहाँ निखिल देवता एवं श्रीहरि स्वयं श्रीलक्ष्मी के सहित निवास करते हैं ॥३५७॥

लैङ्गे—

नारायणपरो विद्वान् यस्यान्नं प्रीतमानसः। अश्नाति तद्धरेरास्यं गतमन्नं न संशयः ॥३५८॥

स्वार्च्चनादपि विश्वात्मा प्रीतो भवति माधवः।
दृष्ट्वा भागवतस्यान्नं स भुङ्क्ते भक्तवत्सलः ॥३५९॥

ब्राह्मे श्रीभगवद्वाक्यम्—

नैवेद्यं पुरतो न्यस्तं दृष्ट्वैव स्वीकृतं मया। भक्तस्य रसनाग्रेण रसमश्नामि पद्मज ॥३६०॥

पाद्मोत्तरखण्डे श्रीशिवोमा-संवादे—

आराधनानां सर्व्वेषां विष्णोराराधनं परम्। तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्च्चनम् ॥३६१

अर्च्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्च्चयेत्तु यः। न स भागवतो ज्ञेयः केवलं दाम्भिकः स्मृतः ॥३६२

तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन वैष्णवान् पूजयेत् सदा। सर्व्वं तरति दुःखौघं महाभागवतार्च्चनात् ॥३६३

एकादशे श्रीभगवद्वाक्यम् (११।४४; १९।२१)—

वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या ॥३६४॥

मद्भक्तपूजाभ्यधिका ॥३६५॥

स भक्तवत्सलो माधवः श्रीकृष्णः ॥३५९॥

पुरतः श्रीशालग्रामशिलादिरूपिणो ममाग्रतो न्यस्तमेव सत् ॥३६०॥

परं श्रेष्ठं, परतरं परमश्रेष्ठम् ॥३६१॥

महत् य। भागवतानामर्च्चनं, तस्मात् ॥३६३॥

वैष्णवेऽधिष्ठाने मत्पूजनञ्च, तस्मिन्नेव बन्धुवत् सम्माननेत्यर्थः ॥३६४॥

पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परमिति प्रतिज्ञयोक्तम्—मद्भक्तेति; मद्भक्तानां पूजा मत्तोऽप्यभ्यधिका विशेषेण कार्य्येत्यर्थः ॥३६५॥

लिङ्गपुराण में लिखित है—नारायण परायण पण्डित व्यक्ति, प्रसन्नचित्त से जो अन्न भोजन करते हैं, वह अन्न निश्चय ही श्रीहरि के वदनकमलगत होता है। भक्तवत्सल जगदात्मा श्रीहरि स्वीय पूजा की अपेक्षा भी वैष्णवान्न को देखकर सन्तुष्ट होते हैं एवं भोजन करते हैं ॥३५८-३५९॥

ब्रह्मपुराण में श्रीभगवद्वाक्य यह है—हे ब्रह्मन्! मदीय शालग्रामादि मूर्त्ति के सम्मुख में जो अन्न निवेदित होता है, मैं दर्शनमात्र से ही उसको ग्रहण करता हूँ, किन्तु भक्त की जिह्वा के अग्रभाग के द्वारा रसास्वादन करता हूँ ॥३६०॥

पद्मपुराण के उत्तरखण्डस्थ श्रीशिवोमा-संवाद में लिखित है—यावतीय आराधना के मध्य में श्रीविष्णु की आराधना श्रेष्ठ है। तदपेक्षा वैष्णववृन्द की पूजा परम श्रेष्ठ है ॥३६१॥

वैष्णव पूजा वर्जन पूर्वक गोविन्दार्च्चन करने से, पूजक को भगवद्भक्त नहीं कहा जा सकता है, वह केवल दाम्भिक है, सुतरां सदा यत्न पूर्वक वैष्णव की पूजा करनी चाहिये। कारण, महाभागवत की पूजा सर्व दुःखहारिणी है ॥३६२-३६३॥

एकादशस्कन्ध में श्रीभगवद्वाक्य यह है—बन्धुवत् सम्मानकर वैष्णव में मेरी पूजा करे, मेरी पूजा की अपेक्षा मेरे भक्त की पूजा ही गरीयसी है ॥३६४-३६५॥

किञ्च, स्कान्दे श्रीमार्कण्डेयभगीरथ-संवादे—

कर्म्मणा मनसा वाचा येऽर्च्चयन्ति सदा हरिम्।
तेषां वाक्यं नरैः कार्य्यं ते हि विष्णुसमा नराः ॥३६६॥

इत्यादृतोऽनुशृणुयाद्भक्तिशास्त्राणि तत्र च। श्रीभागवतमत्रापि कृष्णलीलाकथां मुहुः ॥३६७॥

अथ वैष्णवशास्त्र-माहात्म्यम्

स्कान्दे श्रीब्राह्मनारद-संवादे—

वैष्णवानि च शास्त्राणि ये शृण्वन्ति पठन्ति च।
धन्यास्ते मानवा लोके तेषां कृष्णः प्रसीदति ॥३६८॥
वैष्णवानि च शास्त्राणि येऽर्च्चयन्ति गृहे नराः।
सर्व्वपापविनिर्मुक्ता भवन्ति सर्व्ववन्दिताः ३६९॥

सर्व्वस्वेनापि विप्रेन्द्र कर्त्तव्यः शास्त्रसंग्रहः। वैष्णवैस्तु महाभक्त्या तुष्ट्यर्थं चक्रपाणिनः ॥३७०

तिष्ठते वैष्णवं शास्त्रं लिखितं यस्य मन्दिरे। तत्र नारायणो देवः स्वयं वसति नारद ॥३७१॥

एवमन्नादिसमर्पणेन सम्माननं लिखित्वा इदानीं वाक्यपरिपालनेनापि सम्मानः कार्य्य इति लिखति—कर्म्मणेति। कायादिव्यापारेण त्रिधा सदा ये अर्च्चयन्ति; यद्वा, कर्म्मादिना तेषां वचः कार्य्यमिति सम्बन्धः ॥

इति एवमादृतः सन् भगवद्भक्तिपराणि शास्त्राण्येव अनु निरन्तरं शृणुयात्। तत्र भक्तिशास्त्रेषु च मध्ये श्रीभागवतं विशेषतोऽनुशृणुयात्। तत्र श्रीभागवतेऽपि कृष्णस्य लीलाकथां दशमस्कन्धादि-सम्बन्धिनीमनु निरन्तरं शृणुयादित्यर्थः ॥३६६-३६७॥

भक्तिशास्त्रादीनाञ्चैषां प्रत्येकं माहात्म्यं लिखिष्यन्नादौ सामान्यतो विष्णुभक्तिसम्बन्धिशास्त्रमाहात्म्यं लिखति—वैष्णवानीत्यादिना सदेत्यन्तेन। पूर्व्वञ्च पूजाङ्गत्वेन स्नपने पुराणपाठस्य माहात्म्यं लिखितम्; अधुना च पूजानन्तरं सत्सङ्गे वैष्णवशास्त्रश्रवणादीनां माहात्म्यमिति भेदः। किन्तु प्रायो द्वयोरैक्यात् तत्र लिखितं माहात्म्यमत्र द्रष्टव्यमत्र लिखितं तत्र चेति ॥३६९॥

स्कन्दपुराण के श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-सवाद में लिखित है—जो मानव, काय-वाक्य-मन से सर्वदा श्रीहरि की पूजा करते हैं, उन हरिभजनकारी का वाक्य पालन करना मनुष्यों का कर्त्तव्य है। कारण, वे सब श्रीहरि सदृश होते हैं ॥३६६॥

इस प्रकार समादृत होकर वैष्णववृन्द के समीप में भगवद्भक्ति मूलक शास्त्रसमूह एवं तन्मध्य में विशेषतः श्रीमद्भागवत श्रवण करे, उसमें भी दशमस्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्ण कथा का अनुक्षण श्रवण करे। ॥३६७॥

अथ वैष्णवशास्त्र-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के ही ब्रह्म-नारद संवाद में वर्णित है—इस संसार में जो मानव, वैष्णव शास्त्र श्रवण एवं अध्ययन करते हैं, वे सब ही धन्य हैं। श्रीकृष्ण उन सबके प्रति प्रसन्न होते हैं ॥३६८॥

मनुष्यगण निज निज गृह में वैष्णवशास्त्र की पूजा करके निखिल पातक से उत्तीर्ण होकर सबके पूज्य हो सकते हैं ॥३६९॥

हे विप्रश्रेष्ठ ! श्रीहरिप्रीति के निमित्त महती भक्ति के सहित वैष्णवशास्त्र संग्रह करना वैष्णववृन्द का एकमात्र कर्त्तव्य है ॥३७०॥

हे नारद ! लिखित वैष्णवशास्त्र, जिनके गृह में अवस्थित हैं, वहाँ श्रीनारायणदेव विराज करते हैं। पुराण सम्बन्धीय विष्णु माहात्म्य प्रकाशक एक श्लोक, अर्द्धांश, अथवा पादमात्र अध्ययन करने से

पौराणं वैष्णवं श्लोकं श्लोकार्द्धमथवापि च । श्लोकपादं पठेद्यस्तु गो-सहस्रफलं लभेत् ॥३७२॥
देवतानामृषीणाञ्च योगिनामपि दुर्ल्लभम् । विप्रेन्द्र वैष्णवं शास्त्रं मनुष्याणाञ्च का कथा ॥३७३

तत्रैव श्रीकृष्णार्ज्जुन-संवादे—

मम शास्त्राणि ये नित्यं पूजयन्ति पठन्ति च ।
ते नराः कुरुशार्द्दूल ममातिथ्यं गताः सदा ॥३७४॥

मम शास्त्रप्रवक्तारं मम शास्त्रानुचिन्तकम् । चिन्तयामि न सन्देहो नरं तं चात्मवत् सदा ॥३७५

अथ श्रीमद्भागवत-माहात्म्यम्

तत्रैव—

जीवितादधिकं येषां शस्त्रं भागवतं कलौ । न तेषां भवति क्लेशो याम्यः कल्पशतैरपि ॥३७६

धारयन्ति गृहे नित्यं शास्त्रं भागवतं हि ये ।
आस्फोटयन्ति वल्गन्ति तेषां प्रीताः पितामहाः ॥३७७॥

यावद्दिनानि विप्रर्षे शास्त्रं भागवतं गृहे । तावत् पिवन्ति पितरः क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥३७८॥
येऽर्च्चयन्ति सदा गेहे शास्त्रं भागवतं नराः । प्रीणितास्तैश्च विबुधा यावदाहूतसंप्लवम् ॥३७९

यच्छन्ति वैष्णवे भक्त्या शास्त्रं भागवतं हि ये ।
कल्पकोटिसहस्राणि विष्णुलोके वसन्ति ते ॥३८०॥

पौराणं पुराणसम्बन्धिनं, वैष्णवं विष्णुपरम् ॥३७२॥ आतिथ्यमतिथिवत् परमादरणीयतामित्यर्थः ॥३७४
चिन्तयामि कदाचिदपि न विस्मरामीत्यर्थः; यद्वा, तस्य योगक्षेममनुसन्दधे ॥३७५॥
प्रीताः हृष्टाः सन्तः वल्गन्ति नृत्यादिकं कुर्व्वन्ति ॥३७७॥
आहूतेत्यत्र भकारस्थाने हकारश्छान्दसः; भूतसंप्लवो महाप्रलयस्तत्पर्यन्तम् ॥३७९॥
भागवतं श्रीभागवतीयमित्यर्थः ॥३८०॥

गोसहस्रदान का फल लाभ होता है ॥३७१-३७२॥

हे विप्रवर ! मनुष्य की वार्त्ता तो दूर है, वैष्णवशास्त्र देवगण, ऋषिगण एवं योगिगण के पक्ष में भी दुर्ल्लभ हैं ॥३७३॥

उक्त पुराण के श्रीकृष्णार्जुन-संवाद में वर्णित है—हे कुरुवीर ! जो मानव, नित्य मदीय शास्त्रसमूह का पाठ एवं पूजन करते हैं, वे सब मत्सम्बन्ध में सर्वदा अतिथिवत् पूज्य होते हैं । मैं सर्वदा मदीय शास्त्रवक्ता को एवं मदीय शास्त्र-चिन्तक को स्वीयवत् मानता हूँ, इसमें संशय नहीं है ॥३७४-३७५॥

अथ श्रीमद्भागवत-माहात्म्यम्

उसी पुराण में लिखित है—कलिकाल में जो मानव भागवतशास्त्र को अपने जीवन से भी अधिक जानते हैं, शतकल्प में भी उन सबको यम सम्बन्धीय यन्त्रणा भोगनी नहीं पड़ती है ॥३७६॥

जो मानव निज गृह में भागवत शास्त्र रखते हैं, उनके पितामहगण प्रफुल्ल मन से आस्फोटन एवं नृत्य करते रहते हैं ॥३७७॥

हे विप्रर्षे ! यावत् काल पर्य्यन्त भागवत शास्त्र गृह में विराजित हैं, पितृगण तावत् काल पर्य्यन्त क्षीर, मधु एवं जल सेवन करते हैं । जो मनुष्य, गृह में सदा भागवत शास्त्र की पूजा करते हैं, वे सब महाप्रलय पर्य्यन्त देववृन्द की तृप्ति विधान करते हैं ॥३७८-३७९॥

भक्तिपूर्वक जो मानव वैष्णव को भागवतशास्त्र अर्पण करते हैं, सहस्रकोटि कल्प पर्य्यन्त विष्णुलोक में

श्लोकार्द्धं श्लोकपादं वा वरं भागवतं गृहे । शतशोऽथ सहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ॥३८१॥
न यस्य तिष्ठते गेहे शास्त्रं भागवतं कलौ । न तस्य पुनरावृत्तिर्यमपाशात् कदाचन ॥३८२
कथं स वैष्णवो ज्ञेयः शास्त्रं भागवतं कलौ । गृहे न तिष्ठते यस्य स विप्रः श्वपचाधमः ॥३८३॥
यत्र यत्र भवेद्विप्र शास्त्रं भागवतं कलौ । तत्र तत्र हरिर्याति त्रिदशैः सह नारद ॥३८४॥
तत्र सर्व्वाणि तीर्थानि नदीनदसरांसि च । यत्र भागवतं शास्त्रं तिष्ठते मुनिसत्तम ॥३८५॥
तत्र सर्व्वाणि तीर्थानि सर्व्वे यज्ञाः सुदक्षिणाः । यत्र भागवतं शास्त्रं पूजितं तिष्ठते गृहे ॥३८६॥

किञ्च—

नित्यं भागवतं यस्तु पुराणं पठते नरः । प्रत्यक्षरं भवेत्तस्य कपिलादानजं फलम् ॥३८७॥

श्लोकार्द्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम् ।
पठेत् शृणोति वा भक्त्या गोसहस्र फलं लभेत् ॥३८८॥

यः पठेत् प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं मुने । अष्टादशपुराणानां फलं प्राप्नोति मानवः ॥३८९॥

तत्रैव मार्कण्डेयभगीरथ-संवादे—

यो हि भागवते शास्त्रे विघ्नमाचरते पुमान् ।
नाभिनन्दति दुष्टात्मा कुलानां पातयेच्छतम् ॥३९०॥

श्रीभागवतसंग्रहस्य नित्यतामाह– न यस्येति द्वाभ्याम् ॥३८२॥
विघ्नं तत्पाठादावन्तरायं, न च तदभिनन्दति यः ॥३९०॥

उनका निवास होता है । श्रीमद्भागवत का अर्द्धश्लोक अथवा एक चरण मात्र भी गृह में रहना श्रेयस्कर है, शत शत सहस्र सहस्र अन्य शास्त्र संग्रह का क्या प्रयोजन है ? ॥३८०-३८१॥

कलिकाल में जिनके घर में भगवत-शास्त्र नहीं है, उसको यमपाश से पुनरागमन नहीं करना पड़ता है। कलिकाल में जिसके गृह में भागवत-शास्त्र विराजित नहीं हैं, उसको वैष्णव किस प्रकार जान सकते हैं । वह विप्र चाण्डाल की अपेक्षा अधम है ॥३८२-३८३॥

कलिकाल में जहाँ जहाँ भागवत-शास्त्र विराजित हैं, हे विप्र नारद ! स्वयं हरि, देवगण के सहित वहाँ गमन करते हैं ॥३८४॥

हे मुनिप्रवर ! जिस स्थान में भागवत शास्त्र विद्यमान हैं, उस स्थान में नद, नदी एवं सरोवर प्रभृति निखिल तीर्थ विराजित हैं ॥३८५॥

जिस गृह में भागवत-शास्त्र पूजित होकर विद्यमान हैं, वहाँ पर निखिल तीर्थ एवं सुदक्षिण सर्व यज्ञ विराजमान हैं ॥३८६॥

और भी कथित है—जो मानव, नित्य भागवत पुराण अध्ययन करते हैं, वे प्रति अक्षर में कपिला धेनु दान का फल प्राप्त करते हैं । भक्तिमान् होकर भागवत के श्लोकार्द्ध किंवा पादमात्र नित्य पाठ अथवा श्रवण करने से सहस्र गोदान का फल लाभ होता है, हे मुने ! जो मानव, शुद्धचित्त से भागवत का श्लोक पाठ नित्य करते हैं, वे अष्टादश पुराण पाठ का फल लाभ करते हैं ॥३८७-३८९॥

उक्त पुराण के मार्कण्डेय-भगीरथ-संवाद में लिखा है—जो भागवत-शास्त्र में विघ्न उत्पन्न करते हैं, अथवा अभिनन्दन नहीं करते हैं, वे दुष्टात्मा स्वीय शत कुल को अधोगामी करते हैं ॥३९०॥

पाद्मे गौतमाम्बरीष-संवादे—

अम्बरीष शुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु । पठस्व स्वमुखेनापि यदीच्छसि भवक्षयम् ॥३९१॥

श्लोकं भागवतं वापि श्लोकार्द्धं पादमेव वा । लिखितं तिष्ठते यस्य गृहे तस्य सदा हरिः ।
वसते न सन्देहो देवदेवो जनार्द्दनः ॥३९२॥

द्वारकामाहात्म्ये श्रीमार्कण्डेयेन्द्रद्युम्न-संवादे—

श्रीमद्भागवतं शास्त्रं पठते कृष्णसन्निधौ । कुलकोटिशतैर्युक्तः क्रीड़ते योगिभिः सह ॥३९३॥

गारुड़े—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ-विनिर्णयः । गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिवृंहितः ॥३९४॥

पुराणानां सामरूपः साक्षाद्भगवतोदितः । द्वादशस्कन्धयुक्तोऽयं शतविच्छेदसंयुतः ।
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः ॥३९५॥

तस्मिन्नेव श्रीभागवते प्रथमस्कन्धे (१।२, ३०।४०-४१)—

धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्म्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥३९६॥

कृष्णसन्निधौ क्रीड़ति, योगिभिः भक्तियोगपरैः; यद्वा, कृष्णसंयोगवद्भिः सह क्रीड़ति ॥३९३॥

ब्रह्मसूत्राणां, वेदान्तसूत्राणाम्, पुराणानां मध्ये सामरूपः श्रेष्ठ इत्यर्थः । सारेति वा पाठः । विच्छेदाः प्रकरणानि ॥३९४-३९५॥

तथा स्वतः प्रमाणभूतानां वेदानां सर्व्वाण्येव वचनानि प्रमाणभूतानि, तथा सर्व्ववेदफलस्य श्रीभागवतस्य

पद्मपुराण में गौतम-अम्बरीष-संवाद में लिखित है— हे अम्बरीष ! भववन्धच्छेदन करने की इच्छा हो तो, नित्य शुक प्रोक्त भागवत श्रवण अथवा निजमुख से पाठ करो । श्रीमद्भागवत का एक श्लोक अथवा अर्द्धश्लोक अथवा पादमात्र लिखित होकर जिसके गृह में विराजित है, देवदेव श्रीहरि उसके भवन में सर्वदा अधिष्ठित रहते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥३९१-३९२॥

द्वारका माहात्म्य के श्रीमार्कण्डेय-इन्द्रद्युम्न-संवाद में लिखित है-श्रीकृष्ण के पुरोभाग में श्रीमद्भागवत शास्त्र पाठ करने से स्वीय कोटिकुल समन्वित होकर भक्तिरसिक वैष्णवगण के सहित श्रीकृष्ण के समीप में क्रीड़ा कर सकते हैं ॥३९३॥

गरुड़पुराण में लिखित है—श्रीमद्भागवत ग्रन्थ, वेदान्तसूत्र का अर्थस्वरूप, महाभारत का अर्थनिर्णायक गायत्री का भाष्यस्वरूप, वेदार्थ बोधक एवं सकल पुराण के मध्य में गरीयान् है । यह श्रीमद्भागवत नामक ग्रन्थ, साक्षात् भगवान् कर्त्तृक कथित, द्वादशस्कन्ध विशिष्ट, शतप्रकरण संयुक्त एवं अष्टादश सहस्र श्लोक समन्वित है ॥३९४-३९५॥

उक्त श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में उक्त है—महामुनि श्रीनारायण कर्त्तृक यह श्रीमद्भागवतशास्त्र प्रणीत है, इस शास्त्र में मत्सरहीन अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति दयालु साधुपुरुषगण का अनुष्ठेय परमधर्म निरूपित है, इससे आध्यात्मिकादि त्रितापोच्छेदक परमार्थ वस्तु का परिज्ञान होता है । अतएव अन्यान्य शास्त्र की अथवा तदुक्त अनुष्ठान की आवश्यकता क्या है ? सुकृतिशालि व्यक्तिगण, इस भागवत-शास्त्र श्रवणमात्र से ही तत्काल परात्पर परमेश्वर को हृदयाभ्यन्तर में स्थिर करने में समर्थ होते हैं ॥३९६॥

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् । उत्तमःश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ॥३६७॥

वचनान्येव स्वयं परमप्रमाणभूतानीति तैरेव तन्माहात्म्यं लिखति—धर्म्म इत्यादिभिः। तत्र प्रथम श्रोतृ-प्रवर्त्तनाय श्रीभागवतस्य काण्डत्रयविषयेभ्यः सर्व्वशास्त्रेभ्यः श्रैष्ठ्यं दर्शयति—धर्म्म इति। अत्र श्रीमति सुन्दरे साक्षाद्भक्तिसम्पत्तिमति वा भागवते परमो धर्म्मो निरूप्यते। साक्षादेवास्तीति वा, एतत्सेवयैव स स्वतः प्राप्तः स्यादिति भावः। परमत्वे हेतुः—प्रकर्षेण उज्झितं त्यक्तं कैतवं फलाभिसन्धिलक्षणं कपटं यस्मिन् सः। प्र-शब्देन मोक्षाभिसन्धिरपि निरस्तः, केवलमीश्वराराधनलक्षणो धर्म्म इत्यर्थः। अधिकारितोऽपि धर्म्मस्य परमत्वमाह—निर्मत्सराणाम्, परोत्कर्षासहनं मत्सरः, तद्रहितानां सतां भूतानुकम्पिनाम्; यद्वा, परमत्वहेतुतया प्रोज्झितकैतवत्वमेव प्रतिपादयति; मत्सरकारणे वर्त्तमानेऽपि मत्सरहीनानां सतां भगवद्-भक्तानामित्यर्थः। कर्म्मिणां स्पर्द्धादिहेतुसद्भावेन मत्सरस्वभावत्वात्, ज्ञानिनाञ्च कर्म्मादिपरित्यागेन मत्सरकारणाभावात्, भक्तानान्तु पूजादिभगवद्धर्म्मपराणां कर्म्मिणामेव मत्सरसम्भवेऽपि भक्तिस्वभावेन परस्परमासक्त्या भगवत्कथाश्रवणादिनान्योऽन्यं प्रीतिसम्पत्त्या मत्सरादिदोषानुत्पत्तेः, एवं कर्म्मकाण्ड-विषयेभ्यः श्रैष्ठ्यमुक्तं, ज्ञानकाण्डविषयेभ्योऽपि श्रैष्ठ्यमाह—वेद्यमिति। वास्तवं परमार्थभूतं वस्तु वेद्यं, न तु वैशेषिकाणामिव द्रव्यगुणादिरूपम्; यद्वा, वास्तव-शब्देन वस्तुनोऽंशो जीवः, वस्तुनः शक्तिर्माया च, वस्तुनः कार्य्यं जगच्च, तत्सर्व्वं वस्त्वेव, न तु ततः पृथगिति। वेद्यं अयत्नेनैव ज्ञातुं शक्यम्; ततः किम् ? अत आह—शिवदं परमसुखदम्, आध्यात्मिकादि-तापत्रयोन्मूलनञ्च; यद्वा, वस्तुसारभूतं भगवद्भक्तिलक्षणं, तस्यापि वस्तु प्रेम तत् वेद्यं प्राप्यं, विद्लाभ इत्यस्मात्। एवं साधनसाधकसाध्यद्वारा क्रमेण श्रैष्ठ्यं दर्शितं, कर्त्तृतोऽपि श्रैष्ठ्यमाह—महामुनिः श्रीनारायणस्तेन प्रथमतः संक्षेपेण कृते। देवताकाण्डगतं श्रैष्ठ्यमाह—परैः शास्त्रैस्तदुक्तसाधनैर्वा ईश्वरो हृदि किं वा सद्य एव अवरुध्यते स्थिरीक्रियते। वा-शब्दः कटाक्षे, किन्तु विलम्बेन कथञ्चिदेव। अत्र तु शुश्रूषुभिः श्रोतुमिच्छद्भिरपि तत्क्षणादवरुध्यते; यद्वा, अपरैः प्रयोजनैर्वर्णितैः किम् ? सद्यः सम्प्रति स्थितो य ईश्वरः श्रीकृष्णः, तदवतारस्यैव निरन्तर-वर्णने श्रीभागवतप्रवृत्तेः; यद्वा, सद्यः सपद्येव हृद्यवरुध्यते, प्रकटसर्व्वाङ्गलावण्य-तत्तल्लीलापरिकरपरिवारादिसहितः साक्षादिव सदानुभूयत इत्यर्थः; यद्वा, हृदि स्थितो यः, सोऽवरुध्यते, साक्षान्निजसमीपं प्राप्यते। कीदृशः सः ? निर्व्वक्तुमयोग्यो यः क्षणः मरणकाल इत्यर्थः, तमत्ति नाशयतीति तथा सः, मरणादिसंसारदुःखहन्तेत्यर्थः; यद्वा, स अनिर्व्वचनीयः क्षणः उत्सवः मुक्तिलक्षणस्तमत्ति निजभक्तिमहिम्ना निरस्यति तथा सः; यद्वा, तं प्रसिद्धं क्षणम् इन्द्रमहम् अत्ति—श्रीगोवर्द्धनपूजाप्रवर्त्तनेन हन्तीति सः; यद्वा, तस्मिन् श्रीगोवर्द्धनमहोत्सवे तदखिल-बलिभक्षणेनोपचारात्तमेव अत्ति भक्षयतीति तथा सः, 'बलिमाददवृहद्वपुः' (श्रीभा १०।२४।३५) इति तत्रैवोक्तेः; यद्वा, तासां श्रीगोपीनां, तस्या वा श्रीराधायाः, तन्नामाग्रहणं गौरवादिना, क्षणं गृहाद्यशेषोत्सवं वाह्यमान्तरञ्च प्रेमविशेषविस्तारणेन वायो विग्रहदुःखप्रदानेन वा नाशयतीति तथा सः। एतच्च श्रीभागवतामृते विस्तरतो लिखितमस्ति। एवं सर्व्वथा श्रीकृष्ण एवेत्यर्थः, श्रीभागवतेऽस्मिन् श्रीकृष्णस्यैव नायकत्वेन प्राधान्यात्। तथा च—'यत्कृतः कृष्णसंप्रश्नः' (श्रीभा १।२।५) इत्यत्र श्रीस्वामिपादैर्व्याख्यातम्—'यतः कृष्णविषयः प्रश्नः कृतः, सर्व्वशास्त्रसारोद्धारप्रश्नस्यापि श्रीकृष्णे पर्य्यवसानात्' इति, अतएव तत्तदुपाख्यानादेः सर्व्वस्यापि श्रीकृष्ण एव तात्पर्य्यं, साक्षादेव भातीति दिक्। ननु तर्हि इदमेव सर्व्वे किमिति न शृण्वन्ति ? तत्राह—कृतिभिः। एतच्छ्रवणेच्छा तु पुण्यैर्विना नोत्पद्यत इत्यर्थः; यद्वा, कृतिभिः पण्डितैः, सदसद्विचारा-भावेनास्य शुश्रूषानुपपत्तेः। एवं सर्व्वथा सर्व्वतः श्रैष्ठ्यादिदमेव नित्यमवश्यं श्रोतव्यमिति भावः ॥३६६॥

इदं पुराणं भागवतं नाम श्रीभागवतसंज्ञम्; यद्वा, नामपुराणं नामप्रधानं पुराणमिदमित्यर्थः, सर्व्वत्रैव

हे ऋषिगण ! मैं आपके सम्मुख में यह श्रीमद्भागवत पुराण ग्रन्थ का वर्णन कर रहा हूँ, यह समस्त वेद तुल्य है, इसमें उत्तम श्लोक श्रीहरि के चरित्र वर्णित हैं। भगवान् वेदव्यास लोकहितार्थ इस शास्त्र का

निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत् । तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ।
सर्व्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ॥३९८॥

किञ्च (श्रीभा १।३।४३)—

कृष्णे स्वधामोपगते धर्म्मज्ञानादिभिः सह । कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥३९९॥

किञ्च (श्रीभा १।७।६-७)—

अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे । लोकस्याजानतो व्यासश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥४००

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे । भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥४०१॥

विशेषतो भगवन्नाम-माहात्म्यप्रतिपादनात् । ब्रह्मसम्मितं सर्व्ववेदतुल्यम्; यद्वा, अष्टादशसाहस्री-संहितारूपेण सम्मितं परिमितमिव प्राप्तं परब्रह्मैव, 'कृष्णे स्वधामोपगते' (श्रीभा १।२।४३) इत्यादि-वक्ष्यमाणत्वात् । उत्तमश्लोकस्य चरितं यस्मिन् तत्; यद्वा, उत्तमाः सर्व्वतः श्रेष्ठाः उत्तमसो वा तमो अज्ञानादिदुःखं, तन्निवर्त्तकाः श्लोकाः पद्यानि चरितानि चाख्यानानि यस्मिन् । भगवानेव ऋषिः व्यासरूपः सन् चकार निबबन्ध ॥३९७॥

धन्यं धनावहं, स्वस्त्ययनं सर्व्वमङ्गलप्रापकम्; यद्वा, प्रेमधनावहमतएव सर्व्वमङ्गलाश्रयम् । किञ्च, महत् सर्व्वोत्कृष्टं स्वतः परमफलरूपमेवेत्यर्थः । तत्तस्मादेव हेतोः, सुतं श्रीशुकदेवं, महत्त्वमेवाभिव्यञ्जयति—सर्व्वेति । सारमभिधेयेषु श्रेष्ठं, वीप्सया सर्व्वं सारमित्यर्थः । समुद्धृतमित्यनेन क्षीरोद-महासागरादमृतमेवेति सूचितम् । अतएव आत्मवतां धीराणां जीवन्मुक्तानां वा वरं, परमभक्तत्वात्, अतएव तं ग्राहयामास, अन्यथा तस्यात्र प्रवृत्त्यसम्भवादिति दिक् ॥३९८॥

'ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्म्मवर्म्मणि । स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्म्मः कं शरणं गतः ॥' (श्रीभा १।१।२३) इत्यस्य श्रीशौनकादिप्रश्नस्य उत्तरमाह—कृष्णेति । स्वधाम वैकुण्ठमुपगते सति, अधुना कलौ नष्टदृशां सतां लोकानामेष भागवताख्यःपुराणार्को धर्मादिभिः सह उदितः । यथार्कोदये तमोनाशाच्चक्षुरिन्द्रिय प्रवृत्त्या दृश्यं दृश्यते, तथास्य प्राकट्येन सर्व्वाज्ञाननिवृत्तेर्भक्तिप्रवृत्त्या श्रीकृष्णः साक्षादिव प्राप्यत इत्यर्थः ॥

साक्षादेव अनर्थं संसारम्; यद्वा, न अर्थो भक्तिलक्षणो यस्मिन् तं मोक्षमुपशमयतीति तथा तम् । भक्तियोगमजानतो लोकस्यार्थे सात्वत-संहितां श्रीभागवताख्याम् ॥३९९-४००॥

अनर्थोपशमं दर्शयति—यस्यामिति । श्रूयमाणायामेव, किं पुनः श्रुतायामित्यर्थः । परमपुरुषे पुरुषोत्तमे, भक्तिः पुरुषोत्तम-विषयकभावविशेषः, पुंसः यस्य कस्यचिज्जनस्येत्यर्थः । शोकः संसारित्वादिनानुतापः, मोहः

प्रणयन किये हैं । अतएव यह निखिल पुरुषार्थ प्रापक, एवं परम शुभदायक, सर्व प्रधान है । महामुनि वेदव्यास ने इस श्रीमद्भागवत में सकल वेदों एवं इतिहासों का सार उद्धारकर, स्वतनयधीरश्रेष्ठ श्रीशुकदेव को उपदेश दिया है ॥३९७-३९८॥

और भी लिखा है—धर्म ज्ञानादि के सहित श्रीकृष्ण, स्वधाम गमन करने पर, कलिकाल में समस्त लोकों के चक्षुः अज्ञान तिमिर से विनष्ट हो गये थे, इसी समय में यह पुराणरूप दिवाकर का उदय धर्मज्ञानादि के सहित हुआ ॥३९९॥

और भी लिखा है—अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्ण में साक्षात् भक्तियोग विहित होने पर अनर्थरूप संसार का उपशम होता है । भक्तियोग विषय में अज्ञ जनगण के हितार्थ व्यासदेव ने यह श्रीमद्भागवतरूप सात्वत संहिता का प्रणयन किया है । इसके श्रवणमात्र से ही परम पुरुष श्रीकृष्ण के प्रति शोक, मोह, भय नाशिनी भक्ति का उदय मानव हृदय में होता है ॥४००-४०१॥

द्वितीये श्रीशुकोक्तौ (१।९-१०)—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया । गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥४०२॥

तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान् । यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सतिः ॥४०३

द्वादशे च (१३।१४-१६, १८)—

राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे । यावद्भागवतं नैव श्रूयतेऽमृतसागरः ॥४०४॥

सर्व्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते । तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥४०५॥

निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा । वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ॥४०६

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं,
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
यत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥४०७॥

तन्मूलमज्ञानं, भयं संसारः, तान्यपहन्तीति तथा सा; यद्वा, शोकः भगवदप्राप्त्याऽनुतापः, मोहः गृहाद्यासक्तिः, भयं लोकादिभ्यः, तान्यपहन्तीति तथा सा । एतच्चानर्थोपशमतारूपमानुषङ्गिकफलं दर्शितम् ॥४०१॥

ब्रह्मानन्द-परिनिष्ठितस्य श्रीवादरायणेरेतदध्ययने प्रवृत्त्याः परमफलत्वं दर्शयन् तद्वचनेनैव लिखति— परिनिष्ठित इति । गृहीतचेता आकृष्टचित्तः, आख्यानं श्रीभागवतरूपम् ॥४०२॥

महापुरुषो भगवान् श्रीकृष्णस्तदीयः, एवं वैष्णवेष्वेव श्रीभगवतमभिधेयमित्युक्तम् । यस्य यस्मिन् श्रद्धां कुर्व्वतामपि, सती अहैतुकी मतिः प्रेमेत्यर्थः ॥४०३॥

अमृतं भगवद्भक्तिरसः, तस्य सागरः ॥४०४॥

तद्रसः, तस्यास्वादनं तत्प्रीतिर्वा, स एवामृतं तेन तृप्तस्य, अन्यत्र वेदान्तादौ ॥४०५॥

वैष्णवानां प्रियत्वे हेतुमाह– यस्मिन्नित्यादिना । पारमहंस्यं परमहंसैः प्राप्यं, यद्वा, परमहंसानामपि हितं परं ज्ञानं भगवद्भक्तिमाहात्म्यादिविषयम्, अतोऽमलं सर्व्वमलनिवर्त्तकम्; अतएव श्रीभागवते व्याख्यातम्

द्वितीय स्कन्ध में श्रीशुकोक्ति यह है—हे नृप ! निर्गुण ब्रह्म में परिनिष्ठित होने पर भी मेरा चित्त उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण की लीला से आकृष्ट हुआ था, उससे ही मैंने इस शास्त्र का अध्ययन किया । तुम परम भगवद्भक्त हो, अतः मैं तुम्हारे निकट इस शास्त्र की व्याख्या करता हूँ । इसमें श्रद्धालु होने से भगवान् मुकुन्द में अमलामति होती है । उक्त विवरण से सुस्पष्ट प्रतीति होती है कि, वैष्णव के समीप में ही श्रीमद्भागवत पाठ करना उचित है । "एवं वैष्णवेष्वेव श्रीभागवतमभिधेयमित्युक्तम्" । टीका ॥४०२-४०३॥

द्वादशस्कन्ध में वर्णित है—यावत् पर्य्यन्त अमृतसिन्धुस्वरूप, अर्थात् भगवद्भक्ति रसरूप अमृत सदृश यह पुराण श्रुत नहीं होता है, तावत् पर्य्यन्त ही सज्जन समाज में अन्यान्य पुराण समादृत होते हैं ॥४०४॥

यह श्रीमद्भागवत, सर्ववेदान्तसार हैं, श्रीमद्भागवतीय सुधारस में परितृप्त होने पर अन्यत्र कदाच रति नहीं होती है ॥४०५॥

नदी के मध्य में यद्रूप गङ्गा हैं, देव के मध्य में यद्रूप विष्णु हैं, विष्णुभक्त के मध्य में जिस प्रकार महादेव हैं, पुराण के मध्य में तद्रूप यह श्रीमद्भागवत हैं ॥४०६॥

यह विमल श्रीमद्भागवत पुराण वैष्णववृन्द का अतिशय प्रिय है । इसमें परमहंसगण के प्राप्य भगवद्-भक्ति माहात्म्य विषयक एकमात्र श्रेष्ठ विशुद्ध ज्ञान गीत हुआ है एवं ज्ञान, विरागभक्ति विशिष्ट नैष्कर्म्य

अतएवोक्तं (श्रीभा १।१।३)—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं, शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिवत भागवतं रसमालयं, मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥४०८॥

किञ्च (श्रीभा १।२।३)—

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक,-मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।
संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं, तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥४०९॥

—आदौ ज्ञानं, ततस्तत्त्ववेदनं, ततो विरागः विषयादिवैराग्यं, ततो भक्तिश्च श्रवणादिलक्षणा, तत्सहितं नैष्कर्म्म्यं, निष्कर्म्मणो भागवद्भक्तास्तैः प्राप्यं भगवत्प्रेम आविष्कृतं साक्षादिव दर्शितम् । एतद्-श्रवणादि-प्रवृत्त्या एव स्वतस्तत्तत्सिद्धेः । तत् श्रीमद्भागवतं भक्त्या शृण्वन् विपठन् संकीर्त्तयन् विचारणपरश्च तदर्थं विचारयंश्च सन् नरः सर्व्वो जनः विशेषेण मुच्यते, श्रीवैकुण्ठलोकं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥४०७॥

एवं प्रायः साधनरूपत्वमस्य दर्शितम्, अधुना स्वतः परमफलरूपत्वं दर्शयन् सर्व्वदा परमादरेणेदमेव सेव्यमिति लिखति—निगमेति, निगमो वेदः, स एव कल्पतरुः सर्व्वपुरुषार्थोपायत्वात् सेवकस्याभीष्टपूरकत्वाद्वा, तस्य फलमिदं श्रीभागवतं नाम; तत्तु वैकुण्ठगतं नारदेनानीय श्रीव्यासाय दत्तं, तेन च श्रीशुकमुखे निहितं, तच्च तन्मुखाद्भुवि गलितं शिष्यप्रशिष्यादिरूप-पल्लवपरम्परया शनैरखण्डमेवावतीर्णं, न तूच्चनिपातेन स्फुटत-मित्यर्थः । अतएवामृतरूपेण द्रवेण संयुतम्; लोके हि शुकमुखस्पृष्टं फलममृतमिव स्वादु भवतीति प्रसिद्धम् । अत्र तु शुको मुनिः, अमृतं परमानन्दः, स एव द्रवो रसः; 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (श्रीतैः २।७।१) इति श्रुतेः । यद्वा, द्रवयति जगच्चित्तमार्द्रयतीति द्रवः, स एव परममधुरत्वादिना अमृतरूपः, श्रीकृष्णचरणारविन्द-विषयकप्रेमेत्यर्थः । अतः हे रसिकाः, तत्रापि भावुकाः रसविशेषभावनाचतुराः, अहो भुवि गलितमित्यलभ्य-लाभोक्तिः । इदं भागवतं नाम फलं मुहुः पिवत; ननु त्वगष्ठ्यादिकं विहाय फलाद्रसः पीयते, कथं फलमेव पातव्यम् ? तत्राह—रसं रसरूपम्, अतस्त्वगष्ठ्यादेर्हेयांशस्याभावात् फलमेव कृत्स्नं पिवत । अत्र च—रसतादात्म्य-विवक्षया रसवत्त्वस्याविवक्षितत्वात् अगुण वचनेऽपि रस-शब्दे मतुपः प्राप्त्यभावात् तेन विनैव रसं फलमिति सामानाधिकरण्यम् । अत्र फलमित्युक्ते पानासम्भवो हेयांशप्रसक्तिश्च भवेदिति तन्निवृत्त्यर्थं रसमित्युक्तम्; रसमित्युक्तेऽपि गलितस्य रसस्य पातुमशक्यत्वात् फलमित्युक्तमिति द्रष्टव्यम् । न च भागवतामृतपानं मोक्षेऽपि त्याज्यमित्याह—आलयं लयो मोक्षः, अभिविधावाकारः, लयमभिव्याप्य न हीदं स्वर्गादि-सुखवत् मुक्तैरुपेक्ष्यं, किन्तु सेव्यमेवेत्यर्थः । वक्ष्यति हि—'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे' (श्रीभा १।७।१०) इत्यादि ॥४०८॥

एवं श्रीभागवतस्यासाधारणमाहात्म्यमेव दर्शयन् तच्चोपसंहरन् भक्त्या तत्र प्रवक्तारं श्रीव्यासनन्दन-

---

आविष्कृत हुआ है । सुतरां भक्ति के सहित इसका श्रवण, अध्ययन, विचार करने पर मनुष्य मुक्त हो सकते हैं ॥४०७॥

अतएव प्रथम स्कन्ध में उक्त है—हे रसिक भावुकगण ! यह श्रीमद्भागवत निखिल पुरुषार्थ प्रदायक वेदरूप कल्पतरु का फलस्वरूप हैं, यह श्रीशुकदेव के मुख से मुखामृत द्रवसंयुक्त होकर अवनी मण्डल में अखण्ड रूप से पतित हुआ है । इसमें परित्याज्य हेयांश कुछ भी नहीं है । सुतरां तुम सब इस फल का पान मोक्षावधि निखिल अवस्था में पुनः पुनः करो ॥४०८॥

और भी वर्णित है—निविड़ भवान्ध तरणेच्छु संसारिगण के प्रति कृपा करके जिन्होंने यह असाधारण प्रभाव, वेदसार, अध्यात्म दीपक, गोपनीय पुराण वर्णन किया है, उन श्रीव्यासनन्दन मुनिगुरु श्रीशुकदेव को मैं नमस्कार करता हूँ ॥४०९॥

भगवद्धर्म्मवक्तारं भगवच्छास्त्रवाचकम् । वैष्णवं गुरुवद्भक्त्या पूजयेज्ज्ञानदायकम् ॥४१०॥

अथ श्रीभगवच्छास्त्रवक्तृ-माहात्म्यम्

नारदपञ्चरात्रे ऋषीन् प्रति श्रीशाण्डिल्योक्तौ—

वैष्णवज्ञानवक्तारं यो विद्याद्विष्णुवद्गुरुम् । पूजयेद्वाङ्मनःकायैः स शास्त्रज्ञः स वैष्णवः ॥४११

श्लोकपादस्य वक्तापि यः पूज्यः स सदैव हि । किं पुनर्भगवद्विष्णोः स्वरूपं वितनोति यः ॥४१२

किञ्च—

नारायणः परं ब्रह्म तज्ज्ञानेनाथ गम्यते । ज्ञानस्य साधनं शास्त्रं शास्त्रञ्च गुरुवक्त्रगम् ॥४१३

ब्रह्मप्राप्तिरतो हेतोर्गुर्वधीना सदैव हि । हेतुनानेन वै विप्रा गुरुर्गुरुतरः स्मृतः ॥४१४॥

यस्माद्देवो जगन्नाथः कृत्वा मर्त्यमयीं तनुम् ।
मग्नानुद्धरते लोकान् कारुण्याच्छास्त्रपाणिना ॥४१५॥

तस्माद्भक्तिर्गुरौ कार्य्या संसारभयभीरुणा । शास्त्रज्ञानेन योऽज्ञानं तिमिरं विनिपातयेत् ॥४१६

शास्त्रं पापहरं पुण्यं पवित्रं भोगमोक्षदम् । शान्तिदञ्च महार्थञ्च वक्ति यः स जगद्गुरुः ॥४१७॥

माक्षयति—य इति । अन्धं गाढ़न्तमः ससाराख्यं वा । अत्यन्तं सम्यक्तया तरितुमिच्छतां संसारिणां जनानां करुणया तद्विषयककृपया यः पुराणेषु मन्ये गुह्यं गोप्यमाह । गोप्यत्वे हेतुत्वेन चत्वारि विशेषणानि—स्वो निजः असाधारणः अनुभावः प्रभावः—'ईश्वरः सद्यो हृद्यवरुध्यते' (श्रीभा १।१।२) इत्यादिरूपो यस्य, अखिल-श्रुतीनां सारम्, एकम् अद्वितीयमनुपममित्यर्थः । आत्मानं कार्य्यकारणसङ्घमधिकृत्य वर्त्तमानमात्मतत्त्व-मध्यात्मम्; यद्वा, आत्मानं भगवन्तं हरिमधिकृत्य वर्त्तमानमध्यात्मं, तत्प्रसादैकलभ्यं तत्प्रेमेत्यर्थः । तस्य दीपं साक्षात् प्रकाशकम्, उपयामि शरणं व्रजामि ॥४०९॥

गुरुर्मन्त्रोपदेष्टा, तद्वत् ज्ञानस्य भगवद्धर्म्मादिविषयकस्य दायकं भगवच्छास्त्रवाचनेन, भगवद्धर्म्म-प्रतिपादनात् ॥४१०॥

स्वरूपं तत्त्वं तद्धर्म्मादि-माहात्म्यम् ॥४१२॥

हे विप्राः ॥४१४॥

शास्त्रमेव पाणिः उद्धारहेतुत्वात्, तेन ॥४१५॥

महानर्थः भक्तिलक्षणो यस्मात्तत् ॥४१७॥

भगवद्धर्मवक्ता, भगवच्छास्त्र वक्ता एवं ज्ञान प्रदाता वैष्णव की गुरु के समान भक्तिपूर्वक पूजा करनी चाहिये ॥४१०॥

अथ श्रीभगवच्छास्त्रवक्तृ-माहात्म्यम्

नारदपञ्चरात्र में ऋषिगण के प्रति श्रीशाण्डिल्योक्ति यह है—जो मानव विष्णु सम्बन्धीय ज्ञानवक्ता को विष्णु सदृश गुरुरूप में जानकर काय-वाक्य-मन से पूजा करते हैं, वे ही शास्त्रज्ञ एवं वैष्णवपदवाच्य हैं जो विष्णु धर्मादि माहात्म्य का विस्तार करते रहते हैं, उनकी बात तो दूर रहे, पादमात्र श्लोकवक्ता भी सर्वदा पूजनीय हैं ॥४११-४१२॥

और भी लिखा है—हे विप्रगण ! परब्रह्म नारायण, उनके ज्ञान से प्राप्त होते हैं, ज्ञान साधन ही शास्त्र है, एवं शास्त्र भी गुरुमुखगत है, सुतरां ब्रह्म लाभ भी सर्वदा गुरु के आधीन है । तज्जन्य गुरु सर्वश्रेष्ठ रूप में अभिहित हैं । भगवान् जगत्पति श्रीहरि, मानुषी मूर्त्ति परिग्रह करके करुणापूर्वक शास्त्ररूप कर के द्वारा संसार में पतितजनगण को उद्धार करते हैं । जो शास्त्रज्ञान के द्वारा अज्ञानरूप अन्धकार को विदूरित करते

अथ श्रीकृष्णलीलाकथा-श्रवणमाहात्म्यम्, तत्र पापादिशोधकत्वम्

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे—

तेषां क्षीणं महत् पापं वर्षकोटिशतोद्भवम् ।
विप्रेन्द्र नास्ति सन्देहो ये श्रृण्वन्ति हरेः कथाम् ॥४१८॥

तत्रैवान्यत्र—

सर्व्वाश्रमाभिगमनं सर्व्वतीर्थावगाहनम् । न तथा पावनं नृणां नारायण-कथा यथा ॥४१९

बृहन्नारदीये यज्ञध्वजोपाख्यानान्ते—

अहो हरिकथा लोके पापघ्नी पुण्यदायिनी । श्रृण्वतां ब्रुवताञ्चैव तद्भावानां विशेषतः ॥४२०

प्रथमस्कन्धे (२।१७)—

श्रृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम् ॥४२१॥

सर्व्वेषामाश्रमाणां ब्रह्मचर्य्यादीनाम् अभिगमनं क्रमेण तत्तद्धर्म्मानुष्ठानम् । कथेति—सामान्यतो यद्यपि कथायाः श्रवणं कीर्त्तनादिकं चोक्तं स्यात्; तथापि श्रवणानन्तरमेव कीर्त्तनादि सम्भवतीति आदौ श्रवणापेक्षा यद्वा, श्रवणे सति स्वत एव कीर्त्तनादि सिध्यतीति । कथायां श्रवणस्य प्राधान्याभिप्रायेण पद्यमेतदत्र संगृहीतम् । किञ्च, 'श्रृण्वतां ब्रुवताम्' इत्यादौ च यद्यपि कीर्त्तनादेरपि स्पष्टं माहात्म्यमुच्यते, तथापि श्रवणप्रकरणेऽत्र लिखनात् तत्तदत्र दृष्टान्तत्वेनोह्यम् । यदि वा तत् सर्व्वं स्वतन्त्रमेव मन्तव्यं, तर्हि एक एव महाभागवतो रसिकतया कदाचित् वक्ता, कदाचित् श्रोता, युगपद्वा श्रवणादिकर्त्तेत्येवं श्रवण-कीर्त्तनादिमिश्रित-प्रकरणं श्रीविष्णुपुराणलिखितानुसारेण पृथक् कल्पयितव्यम् । अत्र च प्रयोजनविशेषाभावेन ग्रन्थविस्तरभयेन च न लिखितमिति दिक्; एवमन्यदप्यूह्यम् ॥४१९॥

तस्यां हरिकथायां भावो भक्तिर्येषां तेषां कथा-चिन्तकानां वा ॥४२०॥

पुण्ये श्रवणकीर्त्तने यस्य सः, हृदि यानि अभद्राणि कामादिवासनास्तानि, अन्तःस्थः हृदयस्थः सन् सतां कथाश्रवणादिपराणां, सुहृत् हितकारी ॥४२१॥

हैं, उन गुरुदेव के प्रति भक्तिमान होना संसार भीरु जनगण का अवश्य कर्त्तव्य है । शास्त्र, पातक नाशक, पुण्य, विशुद्ध, भोगमोक्ष दायक, शान्ति प्रदायक एवं भक्तिलक्षण स्वरूप है । यह शास्त्र वक्ता ही जगद्गुरु पद वाच्य है ॥४१३-४१७॥

अथ श्रीकृष्णलीलाकथा-श्रवणमाहात्म्यम्, तत्र पापादिशोधकत्वम्

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है—हे विप्रश्रेष्ठ ! जो मानव, श्रीहरिकथा श्रवण करते हैं, उनके शतकोटि वर्षोत्पन्न महापाप भी विनष्ट होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥४१८॥

उक्त पुराण के अन्यत्र वर्णित है—नारायण कथा, मानव कुल को जिस प्रकार पवित्र करती है, सकल आश्रम धर्माचरण अथवा सकल तीर्थावगाहन द्वारा भी तद्रूप पवित्रता की सम्भावना नहीं है ॥४१९॥

बृहन्नारदीय पुराण के यज्ञध्वजोपाख्यान के आरम्भ में उक्त है—अहो ! श्रीहरिकथा ही संसार में पाप-नाशिनी एवं पुण्यदायिनी है । भक्तिपूर्वक श्रीहरिकथा का श्रवण कीर्त्तन करने पर वह निःसन्देह विशेष रूप से पापनाशिनी एवं पुण्यदायिनी होती है ॥४२०॥

प्रथमस्कन्ध में वर्णित है—साधुगण के मङ्गलकारी पुण्य श्रवण कीर्त्तन भगवान् कृष्ण, निज कथा श्रवणकारी जनगण के हृदयस्थ होकर तदीय हृद्गत यावतीय अशुभ कामादि वासना को विध्वस्त करते हैं ॥४२१॥

एकादशे च देवस्तुतौ (६।९)—

शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां, विद्या-श्रुताध्ययन-दान-तपःक्रियाभिः ।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध,-सच्छ्रद्धया श्रवणसंभृतया यथा स्यात् ।।४२२।।

अथ क्षुत्तृड़ादि-सर्व्वदुःखनिवर्त्तकत्वम्

दशमे श्रीबादरायणिं प्रति श्रीपरीक्षिदुक्तौ (१।१३)—

नैषाऽतिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते । पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ।।४२३

स्कान्दे च तत्रैव—

श्रीप्रदं विष्णुचरितं सर्व्वोपद्रव-नाशनम् । सर्व्वदुःखोपशमनं दुष्टग्रहनिवारणम् ।।४२४।।

अथ प्रकर्षेण सर्व्वमङ्गलकारित्वम्

तत्रैव—

श्रोतव्यं साधुचरितं यशोधर्म्मजयार्थिभिः । पापक्षयार्थं देवर्षे स्वर्गार्थं धर्म्मबुद्धिभिः ।।४२५।।
आयुष्यमारोग्यकरं यशस्यं पुण्यवर्द्धनम् । चरितं वैष्णवं नित्यं श्रोतव्यं साधुबुद्धिना ।।४२६।।
कुटुम्बवृद्धिं विजयं शत्रुनाशं यशो बलम् । करोति विष्णुचरितं सर्व्वकालफलप्रदम् ।।४२७।।

हे ईड्य, हे ऋषभ ! दुराशयानां रागिणां विद्यादिभिस्तथा शुद्धिर्न भवति । अत्र विद्या उपासना, श्रुतं शास्त्रम्, अध्ययनं वेदाभ्यासः, तपः स्वधर्म्माचरणं, क्रिया यज्ञादयः, सत्त्वात्मनां सतां, ते यशसि श्रवणेन सम्भृतया परिपुष्टया अतिवृद्धया सत्श्रद्धया उत्तमप्रीत्या परमादरेण वा; यद्वा, सतामिव श्रद्धया आस्तिक्यमात्रेणापि यथा स्यात्; यद्वा, शुद्धिर्न स्यादित्यत्र हेतुः— दुराशयानां विद्यादिभिरेव दुष्टाभिमानवतां सतामिति। शुद्धिः स्यादित्यत्र हेतुः—यशसि प्रवृद्धसत्श्रद्धयैव सत्त्वात्मनां शुद्धचित्तानां सतामिति । यद्वा, हे सत्त्वात्मनामृषभ, सात्वतवर्ग-प्रभो ! दुराशयानामपि यशसि प्रवृद्धसत्श्रद्धया यथा शुद्धिः स्यात्, तथा विद्यादिभिर्नस्यात्; यद्वा, तथा सत्त्वात्मनां सात्त्विकानामपि विद्यादिभिर्न स्यात्, भगवत्कथाश्रवणाभावात् ।।४२२।।

एषा क्षुत् तु अनशनव्रतोत्था सर्व्वानर्थमूलभूता सद्यो महार्त्तिप्रदत्वेन सर्व्वैरनुभूयमाना वा अन्येषामतिदुःसहापि मां त्यक्तोदमपि न बाधते, न पीडयति; यद्वा, कायिकव्यापारादिबाधमपि नाचरति । कुतः ? सर्व्वदुःखं हरतीति हरिस्तस्य कथैवामृतं तत् पिबन्तं, तच्च त्वन्मुखाम्भोजच्युतमिति गुणविशेषो दर्शितः । हरिकथामृतपानाभावे च सद्य एव जीवनं न स्यादित्यर्थः ।।४२३।।

किं बहुनोक्तेन ? सर्व्वेषामेव कामानां वाञ्छानां फलं प्रकर्षेण ददातीति तथा तत् ।।४२७।।

एकादशस्कन्ध की देवस्तुति में वर्णित है—हे स्तवनीय ! हे ऋषभ ! आपकी यशोराशि श्रवण से उत्पन्न प्रवृद्ध श्रद्धा द्वारा साधुगण का जिस प्रकार चित्त विमल होता है, विद्या, अध्ययन, दान एवं तपस्यादि क्रिया द्वारा भी सांसारिकजन का चित्त उस प्रकार विशुद्ध नहीं होता है ।।४२२।।

अथ क्षुत्तृड़ादि-सर्व्वदुःखनिवर्त्तकत्वम्

दशमस्कन्ध में श्रीबादरायणि के प्रति श्रीपरीक्षित् का कथन है—मैं प्रायोपवेशन निबन्धन जल ग्रहण पर्य्यन्त परित्याग किया हूँ । किन्तु भवदीय मुखपद्म निःसृत कृष्ण कथामृत पान करने के कारण दुःसहा क्षुधा मुझको बिन्दुमात्र क्लेश प्रदान करने में सक्षम नहीं है ।।४२३।।

स्कन्दपुराण के उक्त स्थान में लिखित है—विष्णु-चरित्र श्रवण करने से सम्पत्ति लाभ, सर्वविध उपद्रव नाश, सकल दुःखोपशम एवं कुग्रह निवारण होता है ।।४२४।।

अथ प्रकर्षेण सर्व्वमङ्गलकारित्वम्

उक्त पुराण में वर्णित है—हे देवर्षे ! यशः, धर्म एवं जयार्थी व्यक्ति के पक्ष में एवं धर्मबुद्धि सम्पन्न,

सर्व्वसत्कर्म्मफलत्वम्

प्रथमस्कन्धे (२।८)—

धर्म्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।।४२८

अथ श्रोतेन्द्रिय-साफल्यकारित्वम्

तृतीये श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे (६।३७)—

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां, सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः ।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां, कथासुधायामुपसंप्रयोगम् ।।४२९।।

अथ आयुःसाफल्यकारित्वम्

द्वितीये श्रीशौनकोक्तौ (३।१७)—

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ । तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमःश्लोकवार्त्तया ।।४३०।।

यो धर्म्म इति प्रसिद्धः, स यदि विष्वक्सेनकथासु रतिं नोत्पादयेत्, तर्हि स्वनुष्ठितोऽपि सन् अयं श्रमो ज्ञेयः। कथास्विति बहुत्वं गौरवेण, यासु कासुचिदित्येतद्विवक्षया वा। ननु मोक्षाद्यर्थस्य धर्म्मस्य श्रमत्वमस्त्येव, अत आह—केवलं विफलश्रम इत्यर्थः, भगवत्कथारत्यनुत्पत्त्या मोक्षासिद्धेः, निजसाध्यभगवत्कथारत्यनुत्पादनाद्वा। नन्वस्ति तत्रापि स्वर्गादिफलमित्याशङ्क्य एवकारेण निराकरोति, क्षयिष्णुत्वान्न तत्फलमित्यर्थः। ननु 'अक्षय्यं ह वै चातुर्म्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इत्यादि-श्रुतेर्न तत्फलस्य क्षयिष्णुत्वमित्याशङ्क्य हि-शब्देन साधयति, तद्वत् 'यथेह कर्म्मजितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते, इति तर्कानुगृहीतया श्रुत्या क्षयप्रतिपादनात्। यद्वा, ननुसत्त्वशुद्धिद्वारा मोक्षः फलमस्तु, तत्राह—केवलमिति। तथापि विफलश्रम एवेति भावः, वैष्णवैर्मोक्षस्याप्यनादृतत्वात्। यद्वा, ननु भक्तिविघ्नरूपविविधसंसारदुःखनिरसनार्थं तेषामप्यसावपेक्ष्यः स्यात्, तत्राह—एवेति। तथापि तस्यापितुच्छत्वात् केवलं श्रम एवेति भावः। ननु मोक्षः परमपुरुषार्थो वेदान्तादौ प्रसिद्धः, तत्राह—हीति। 'अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ' (श्रीभा १०।१४।२६) इत्यादिभिर्वचनैर्मोक्षस्य मायिकतुल्यताप्रतिपादनात्। तच्च विस्तरेण श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे व्यक्तमेवास्ति। एवं श्रीकृष्णकथारत्युत्पादनमेव सर्व्वधर्म्मफलमिति तात्पर्य्यम् ।।४२८।

एकान्ततो लाभं फलं नु निश्चितमाहुः—श्रुतेः श्रोत्रस्य च। उपाकृतायां निरूपितायाम्, उपसंप्रयोगं सन्निधावर्पणम् ।।४२९।।

असौ सूर्य्यः उद्यन् उद्गच्छन् अस्तमदर्शनञ्च यन् गच्छन् यत् येन क्षणो नीतः, तस्यायुर्जीवनकालम् ऋते

साधुबुद्धि युक्त व्यक्तिगण के पक्ष में पापक्षय हेतु एवं स्वर्गलाभ निमित्त, आयुर्वर्धक, आरोग्यकर, यशःप्रद, पुण्यवर्धक श्रीविष्णुचरित्र श्रवण करना एकान्त कर्त्तव्य है। श्रीविष्णुचरित सेवन से कुटुम्ब वृद्धि, विजय-लाभ, अरिक्षय, यशोवर्द्धन, बलवर्धन एवं सर्वभीष्ट पूरण होता है ।।४२५-४२७।।

सर्व्वसत्कर्म्मफलत्वम्

प्रथमस्कन्ध में वर्णित है—श्रीहरिकथा में अनुराग न होने से सुन्दर रूप में अनुष्ठित धर्म भी केवल श्रम मात्र में परिगणित होता है ।।४२८।।

अथ श्रोत्रेन्द्रिय-साफल्यकारित्वम्

तृतीयस्कन्ध में श्रीविदुर-मैत्रेय-संवाद में वर्णित है—हे विदुर ! पुण्यकीर्त्ति श्रीहरि के गुणानुवाद ही मानवों के वाक्य का एकमात्र फल कहा गया है। सुधीगण कर्त्तृक निर्दिष्ट श्रीहरिकथामृत में जो श्रवणों का सन्निकर्ष है, वही श्रवणद्वय की सार्थकता कही गई है ।।४२९।।

अथ आयुःसाफल्यकारित्वम्

द्वितीयस्कन्ध में श्रीशौनकमुनि कहे हैं—हे सूत ! दिवाकर प्रत्यह उदित एवं अस्तगत होकर सब लोकों

अथ परमवैराग्योत्पादकत्वम्

तृतीये श्रीविदुरोक्तौ (५।१३)—

सा श्रद्दधानस्य विवर्द्धमाना, विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः ।
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य, समस्तदुःखात्ययमाशु धत्ते ॥४३१॥

चतुर्थे श्रीपृथुचरितान्ते श्रीमैत्रेयोक्तौ (२३।१२)—

छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीह,-स्तत्तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन ।
तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो, यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्य्यात् ॥४३२॥

एकादशे च श्रीभगवन्तं प्रत्युद्धववाक्ये (६।४४)—

तव विक्रीड़ितं कृष्ण नृणां परममङ्गलम् । कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजन्त्यन्यस्पृहां जनाः ॥४३३

वर्ज्जयित्वा हरति । एवं श्रीभगवद्वार्त्तारहितस्य वृथैवायुर्गच्छति । एकदापि श्रीभगवत्कथया सर्व्वमेवायुः सफलं स्यादिति भावः ॥४३०॥

सा हरिकथा श्रद्दधानस्य प्रीतिं विश्वासं वा कुर्व्वतः, तया विना तादृशविरक्त्यसिद्धेः, प्रवृत्त्यभावाच्च । यद्वा, आस्तिक्यमात्रं कुर्व्वतोऽपि पुंमात्रस्य, अन्यत्र ग्राम्यसुखे हरिकथाव्यतिरिक्ते वा सर्व्वत्र । ततः किम् ? अत आह—हरेरिति, हरेः पादयोरनुस्मृतिः निरन्तरस्मरणं, तया निर्वृतस्य सतः ॥४३१॥

छिन्ना विनष्टा अन्यधीः देहात्मबुद्धिर्देवान्तरविषयकबुद्धिर्वा भक्तिव्यतिरिक्त-ज्ञानादिविषयकबुद्धिर्वा यस्य यस्य सः । यतः अधिगता अधिकं प्राप्ता आत्मगतिः आत्मतत्त्वं श्रीकृष्णो वा तद्भक्तिर्वा येन सः, अतएव निरीहः प्राप्तासु सिद्धिष्वपि निस्पृहः देहाद्यर्थचेष्टारहितो वा । किञ्च, येन वयुनेन ज्ञानेन इदं पूर्व्वोक्तं संशयपदं संसारबन्धनं वा अच्छिनत् तत्याज—श्रीपृथुः तत्प्रयत्नादप्युपररामेत्यर्थः, फले सिद्धे साधनप्रयासानुपपत्तेः । तस्याणिमादिसिद्धिषु चतुर्व्विधमोक्षेष्वपि निस्पृहत्वं युक्तमेवेत्याह—तावन्नाप्रमत्तः, किन्तु प्रमत्तो भवत्येव । यतिर्ज्ञाननिष्ठोऽपि, अतः श्रीपृथोः श्रीकृष्णकथारत्या तत्र तत्र न लोभो जात इत्यर्थः ॥४३२॥

आस्वाद्य प्रीत्या निशम्य; अन्यस्मिन् विषयभोगादौ मोक्षेऽपि स्पृहाम् ॥४३३॥

की आयुः हरण करते हैं, सुतरां तुम हम सबको हरिकथा श्रवण कराकर हमारे जीवनकाल को सार्थक करो ॥४३०॥

अथ परमवैराग्योत्पादकत्वम्

तृतीयस्कन्ध में विदुरोक्ति है—श्रद्धान्वित पुरुष की बुद्धि क्रमशः वृद्धिशीला होकर ग्राम्यसुख में वैराग्य उत्पन्न करती है, पश्चात् श्रीहरिपादपद्म के अनुस्मरण पुलकित करके आशु तदीय सकल दुःख विनष्ट करती है ॥४३१॥

चतुर्थस्कन्ध के श्रीपृथुचरितान्त में श्रीमैत्रेय की उक्ति है—नृपति पृथु के देह में आत्मबुद्धि विनष्ट होगई, एवं भगवत् स्वरूप प्राप्त होने से उपस्थित अणिमादि सिद्धि के प्रति भी आकाङ्क्षा उनकी नहीं रही, अतएव जिस ज्ञान से असम्भावनादि का आधार स्वरूप हृदयग्रन्थि छिन्न हुई, उसको भी उन्होंने परित्याग किया, कारण, यावत् श्रीहरिकथा में प्रीति नहीं होती है, तावत् काल ही योगिगण भोगपति में ममता त्याग करने में अक्षम होते हैं ॥४३२॥

एकादशस्कन्ध में श्रीभगवान् के प्रति उद्धव ने कहा है—हे कृष्ण ! कर्णानन्ददायक एवं परममङ्गलकर तुम्हारे लीला विषयक आस्वादन करके मानवगण अन्य स्पृहा को विसर्ज्जन करते हैं ॥४३३॥

अथ संसारतारकत्वम्

चतुर्थे प्रचेतसः प्रति श्रीभगवदुक्तौ (३०।१९)—

गृहेष्वाविशताञ्चापि पुंसां कुशलकर्म्मणाम् । मद्वार्त्ता-यातयामानां न बन्धाय गृहा मताः ।।४३४

अथ सर्व्वार्थप्रापकत्वम्

स्कान्दे तत्रैव—

धर्म्मार्थकाममोक्षानां यदिहृञ्च नृणामिह । तत् सर्व्वं लभते वत्स कथां श्रुत्वा हरेः सदा ।।४३५

द्वादशे च श्रीशुकोक्तौ (४।४०)—

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो,-र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।

लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण, पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्द्दितस्य ।।४३६।।

द्वारकामाहात्म्ये—

नित्यं कृष्णकथा यस्य प्राणादपि गरीयसी । न तस्य दुर्लभं किञ्चिदिह लोके परत्र च ।।४३७

द्वितीयस्कन्धे (३।१२)—

ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्म्मिचक्र,-मात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः ।

कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः, को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्य्यात् ।।४३८।।

आविशताम् आसक्तया निःसतामपि, कुशलं मदर्पितं कर्म्म येषाम्; मद्वार्त्तया यातो यामः कालः एक-प्रहरमात्रो वा येषां, न बन्धाय मताः, किन्तु संसारबन्धमोचनायैव मताः सद्भिरित्यर्थः ।।४३४।।

वत्स हे नारद; यद्वा, हरेर्वत्ससम्बन्धिकथां वत्सपालनलीलावार्त्तामित्यर्थः ।।४३५।।

विविधं दुःखमेव दावानलः, तेनार्द्दितस्य पीड़ितस्य, अत उत्तितीर्षोः पुंसः भगवतो या लीलाकथास्तासां रसस्तन्निषेवणमन्तरेण अन्यः प्लवः उत्तरणसाधनं न भवेत ।।४३६।।

प्राणादपि कथा गरीयसीति—निजजीवनादपि कथाश्रवणादौ यस्यासक्तिरित्यर्थः ।।४३७।।

यत् यासु कथासु ज्ञानं भवति । कीदृशम् ? आ सर्व्वतः प्रतिनिवृत्तम् उपरतं गुणोर्म्मीणां रागादीनां चक्रं समूहो यस्मात्, तद्धेतुरात्मनो मनसः प्रसादश्च यत्र यासु । आत्मप्रसादहेतुः गुणेषु विषयेषु असङ्गो

अथ संसारतारकत्वम्

चतुर्थस्कन्ध में प्रचेतोगण के प्रति श्रीभगवान् की उक्ति यह है—हे वत्सगण ! गृहाश्रम से बन्ध की उत्पत्ति होती है, सत्य है, किन्तु गृहाश्रम में प्रविष्ट होकर भी कर्मफल मुझको अर्पण करने पर एवं एक प्रहर काल मत्कथा प्रसङ्ग में अतिवाहित करने से गृहाश्रम कदाच बन्धनहेतु नहीं होता है ।।४३४।।

अथ सर्व्वार्थप्रापकत्वम्

स्कन्दपुराण के उक्त स्थल में लिखित है—वत्स नारद ! इस संसार में यदि मनुष्यवृन्द की, धर्म अर्थ, काम लाभ के प्रति इच्छा होती है, तब श्रीहरिकथा सर्वदा श्रवण करने से तत्समुदाय की प्राप्ति होगी । ४३५।।

द्वादशस्कन्ध में श्रीशुकदेव का कथन है—विविध दुःखदावाग्नि से पीड़ित एवं अति दुस्तर संसार-सिन्धु से उत्तरणेच्छु मानव के सम्बन्ध में पुरुषोत्तम श्रीभगवान् श्रीकृष्ण की लीला-कथारस सेवा व्यतीत अन्य उपाय नहीं है ।।४३६।।

द्वारकामाहात्म्य में उक्त है—जो मानव, नित्य श्रीहरिकथा को निज प्राण से भी अधिक महत्त्व देते हैं, उनको इस लोक किंवा परलोक में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है ।।४३७।।

द्वितीयस्कन्ध में लिखित है—शुकदेव ने कहा, महाराज ! हरिकथा में रति की कथा क्या कहूँ ? हरि-कथा श्रवण करते करते एवं विध ज्ञानोदय होता है, जिससे विषय रागादि मूलतः विनष्ट हो जाते हैं, मन

अथ मोक्षाधिकत्वम्

दशमस्कन्धे श्रुतिस्तुतौ (८७।२१)—

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो,-श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्तपरिश्रमणाः।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते, चरणसरोजहंसकुल-सङ्गविसृष्टगृहाः॥४३९॥

तृतीयस्कन्धे श्रीकपिलदेवहूति-संवादे (२५।३४)—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि,-न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योऽन्यतो भागवताः प्रसज्य, सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥४४०॥

वैराग्यञ्च। उभयत्रेति पाठे इहामुत्र च गुणेष्वसङ्गः। अथ तत्तदनन्तरं कैवल्यमित्येव सम्मतः पन्था यो भक्तियोगः, स च भवति। निर्वृतः अन्यत्र श्रवणसुखेन निर्वृत इति वा॥४३८॥

भो ईश्वर! दुर्बोधं यत् आत्मनस्तव तत्त्वं, तस्य निगमाय ज्ञापनाय तवात्ततनोः आविष्कृतमूर्त्तेः चरितमेव महामृताब्धिः, तस्मिन् परिवर्त्तो विगाहस्तेन परिश्रमणाः परिवर्ज्जनार्थं श्रमणं श्रमः, गतश्रमा इत्यर्थः। यद्वा, तत् परिश्रमणमभ्यासो येषां ते; यद्वा, चरितमहामृताब्धेः परिवर्त्तास्तरङ्गास्तेषु परिश्रमणाः कृतपरिशीलनाः त्वन्मधुरकथारससेविन इत्यर्थः। अपवर्गमपि न परिलषन्ति नेच्छन्ति, कुतोऽन्यत्। केचिदिति एवम्भूता भक्तिरसिका विरला इति दर्शयति। न केवलमन्यन्नेच्छन्ति, किन्तु तेनैव सुखेन पूर्णाः सन्तः पूर्व्वसिद्धगृहादिसुखमप्युपेक्षन्ते इत्याह—तव चरणसरोजे हंसा इव रममाणा ये भक्तास्तेषां कुलं, तेन सङ्गस्तेन विसृष्टा गृहा यैस्ते तथा; यद्वा, चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्त-परिश्रमणत्वे हेतुः—'चरणसरोजहंसकुल-सङ्गविसृष्टगृहाः' इति। अर्थस्तु तथैव। श्रुतिश्च मुक्तेरप्याधिक्यं भक्तेर्दर्शयति—'यं सर्व्वे वेदा नमन्ति, मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च' इति। व्याख्यातञ्च सर्व्वज्ञैर्भाष्यकृद्भिः—'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते' इति॥४३९॥

मोक्षादपि भक्तेर्गरिष्ठत्वमेवोपपादयति—नैकात्मतामिति, एकात्मतां सायुज्यमोक्षं, पादसेवाभिरतत्वमेवाह—मदीहा मदर्थमेव ईहाः श्रवणवागिन्द्रियादिव्यापारा येषाम्। तामेवाभिव्यञ्जयति—ये इति। प्रसज्य आसक्तिं कृत्वा पौरुषाणि वीर्य्याणि सभाजयन्ते श्रवणकीर्त्तनादिना सम्मानयन्ति। प्रसज्येत्यनेन अन्योऽन्य-प्रीतिहेतुः पौरुषभाजनस्य स्वाभाविको रसविशेषो दर्शितः, अतएव गरिष्ठत्वं सिद्धमिति दिक्॥४४०॥

की प्रसन्नता होती है, एवं विषय वितृष्णारूप वैराग्योदय होता है, सुतरां उसको ही कैवल्य पथस्वरूप किंवा भक्तियोग कहा जाता है। अतएव विषय वितृष्ण ऐसा कौन व्यक्ति है, जो उस प्रकार श्रीहरिकथा में रति नहीं करेगा?॥४३८॥

अथ मोक्षाधिकत्वम्

दशमस्कन्धस्थ श्रुतिस्तुति में वर्णित है—हे ईश्वर! दुर्बोध आत्मतत्त्व ज्ञापन के निमित्त आविष्कृतमूर्त्ति आपके चरित्ररूप महासमुद्र में अवगाहन से विगतश्रम व्यक्तिगण के मध्य में कतिपय व्यक्ति, आपके चरण-सरोज में हंसकुल के समान रममाण भक्तकुल के संसर्ग से परित्यक्ताश्रमी होकर मुक्ति पर्य्यन्त की भी वाञ्छा नहीं करते हैं॥४३९॥

तृतीयस्कन्ध के श्रीकपिल-देवहूति-संवाद में लिखित है—हे मातः! जो मेरी चरण-सेवा में अभिरत हैं, जिनकी मेरे निमित्त ही समस्त चेष्टा हैं, विशेषतः जो परस्पर मिलित होकर अनुरक्त चित्त से मद्वीर्य वर्णन में यत्नशील होते हैं, एतादृश कतिपय भागवतवृन्द तद्रूप मुक्ति अर्थात् मत्सह एकात्मता की वाञ्छा नहीं करते हैं॥४४०॥

अथ वैकुण्ठलोकप्रापकत्वम्

द्वितीये श्रीसूतोक्तौ (२।३७)—

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां, कथामृतं श्रवणपुटेषु संभृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं, व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥४४१॥

तृतीये कपिलदेवस्तुतौ (५।४५)—

पानेन ते देव कथासुधायाः, प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं, यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥४४२॥

स्कान्दे अमृतसारोद्धारे श्रीयमस्य दूतानुशासने—

ये शृण्वन्ति कथां विष्णोर्ये पठन्ति हरेः कथाम् ।
कलायुतं नावलोक्यं गतास्ते ब्रह्म शाश्वतम् ॥४४३॥
यस्य विष्णुकथालापैर्नित्यं प्रमुदितं मनः ।
तस्य न च्यवते लक्ष्मीस्तत्पदञ्च करे स्थितम् ॥४४४॥

सतां ज्ञानिनामात्मनः आत्मत्वेन प्रकाशमानस्य; यद्वा, सतां भक्तानामात्मनः परमप्रियस्य, श्रवणपुटेषु सम्भृतं पिबन्तीति सुखमादरेण, मुहुः शृण्वन्तीत्यर्थः। विषयैर्विदूषितं मलिनीकृतमाशयम्; यद्वा, विषयैर्विदूषित आश्रयो यस्य तमपि पुनन्ति शोधयन्ति, किमुतात्मानम्; किञ्च, तस्य चरणपद्मान्तिकं श्रीवैकुण्ठलोकं व्रजन्ति ॥४४१॥

वैराग्यं सारः बलं यस्य तम्; यद्वा, वैराग्यस्य सारः फलरूपं बोधं भगवद्भक्तिमाहात्म्यादिज्ञानं यथावत् प्रतिलभ्य लब्ध्वा अञ्जसा सुखेन अकुण्ठधिष्ण्यं श्रीवैकुण्ठलोकम् अन्वीयुः प्रापुः ॥४४२॥

ब्रह्मस्वरूपं शाश्वतं निरपायपदं श्रीवैकुण्ठलोकमित्यर्थः ॥४४३॥

तस्य विष्णोः पदं स्थानं श्रीवैकुण्ठलोकः, करे स्थितं सुलभमित्यर्थ ॥४४४॥

अथ वैकुण्ठलोकप्रापकत्वम्

द्वितीयस्कन्ध में श्रीसुत महाशय कहते हैं—भगवान् श्रीहरि, भक्तवृन्द के आत्मतत्त्व प्रकाशक हैं, उनके कथामृत को कर्णपुट में स्थापन कर जो मानव उसको पान करते हैं, उनका मन विषयों से दूषित होने पर भी, वे उसको शुद्ध करके श्रीविष्णु के चरण समीप में गमन करते हैं ॥४४१॥

तृतीयस्कन्ध के कपिलदेव स्तुति में वर्णित है—हे देव ! जिन मानवों का चित्त, तुम्हारी कथारूप अमृत पान द्वारा एवं वर्द्धनशील भक्ति द्वारा विमल होता है, वे वैराग्य का साररूप ज्ञान लाभ पूर्वक श्रीवैकुण्ठ-लोक में गमन करते हैं ॥४४२॥

स्कन्धपुराण के अमृतसारोद्धार में श्रीयमानुशासन में वर्णित है—हे दूतगण ! जो विष्णुकथा श्रवण करते हैं एवं विष्णुकथा कहते हैं, उनके अयुत कुल के प्रति दृष्टिपात न करना, वे सब वैकुण्ठलोक में पहुँच चुके हैं, ऐसा समझ लेना ॥४४३॥

विष्णुकथा से जिनका मन हर्षान्वित है, लक्ष्मी कदाच उनको परित्याग नहीं करती है, श्रीवैकुण्ठ-लोक भी उनका करतल स्थित है ॥४४४॥

अथ प्रेमसम्पादकत्वम्

द्वादशे (३।१५)—

यस्तूत्तमःश्लोकगुणानुवादः, संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं, कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥४४५॥

अथ श्रीभगवद्वशीकारित्वम्

स्कान्दे—

यत्र यत्र महीपाल वैष्णवी वर्त्तते कथा । तत्र तत्र हरिर्याति गौर्यथा सुतवत्सला ॥४४६॥

श्रीविष्णुधर्म्मे श्रीभगवदुक्तौ, स्कान्दे च श्रीभागवदर्ज्जुन-संवादे—

मत्कथावाचकं नित्यं मत्कथाश्रवणे रतम् । मत्कथाप्रीतमनसं नाहं त्यक्ष्यामि तं नरम् ॥४४७॥

दशमस्कन्धे ब्रह्मस्तुतौ (१४।३)—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव, जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्त्ताम् ।
स्थानस्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि,-र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥४४८॥

तमेव, न तु तद्व्यतिरिक्तं शृणुयात् । नित्यं प्रत्यहं, तत्राप्यभीक्ष्ण कृष्णे या अमला भक्तिः प्रेमलक्षणा तामभीप्समानः, गुणानुवादश्रवणेनैव सा सम्पद्यतेत्यर्थः ॥४४५॥

उदपास्य ईषदप्यकृत्वा, सद्भिर्मुखरितां स्वत एव नित्यं प्रकटिताम्; यद्वा, सन्तः संयतवाचोऽपि मुखरिता यया तां भवदीयां भवदीयानां वा भगवद्भक्तानामपि वार्त्ताम् । सत्स्थान एव स्थिताः, सत्सन्निधिमात्रेण सन्मुखरितत्वेन वा स्वत एव श्रुतिगतां श्रवणं प्राप्ताम्; तनुवाङ्मनोभिर्नमन्तः सत्कुर्व्वन्तः ये जीवन्ति केवलं, न त्वन्यत् यद्यपि कुर्व्वन्ति, तैः प्रायशस्त्रिलोक्यामन्यैरजितोऽपि त्वं जितः प्राप्तः वशीकृतो वाऽसि । यद्वा, श्रुतिगतां वेदवर्त्तिनीं सन्मुखरितां भवदीयवार्त्तां प्रायशो नमन्तः, तदुद्देशेन नमनं कुर्व्वन्तोऽपि; अप्यर्थे एवकारः; प्रायश इति—कदाचिदशक्त्यादिना न नमन्तोऽपीत्यर्थः । जीवन्ति यद्यपि स्वप्राणान् पोषयन्ति; यद्वा, वार्त्तामुपजीवन्ति, तया निजजीविकां साधयन्ति । तथापि हे अजित ! त्रिलोक्यां सर्व्वत्रैवेत्यर्थः,

---

अथ प्रेमसम्पादकत्वम्

द्वादशस्कन्ध में श्रीशुकदेव बोले— हे राजन् ! श्रीकृष्ण-चरणयुगल में प्रेमलक्षण भक्ति लाभेच्छा से सर्वदा उनका अमङ्गलनाशक गुणानुवाद पूर्वक स्तव करना एवं नित्य वारम्बार उनका गुणानुवाद श्रवण करना ही पारमार्थिक जानना चाहिये ॥४४५॥

अथ श्रीभगवद्वशीकारित्वम्

स्कन्दपुराण में वर्णित है—हे भूप ! जहाँ जहाँ विष्णुकथा विद्यमान है, वहाँ वहाँ भगवान् हरि सन्तान वत्सला धेनु के समान गमन करते हैं ॥४४६॥

श्रीविष्णुधर्म के भगवद् वाक्य में एवं स्कन्दपुराण के भगवद्-अर्जुन-संवाद में वर्णित है—जो मनुष्य नित्य मेरी कथा कीर्त्तन करते हैं, मेरी कथा सुनने में अनुरागी होते हैं, और मेरी कथा के प्रति प्रीतियुक्त मानस हैं, मैं उन मनुष्य को कभी त्याग नहीं करता हूँ ॥४४७॥

दशमस्कन्ध की ब्रह्मस्तुति में वर्णित है— हे भगवन् ! जो मानव, मुक्तिविषयक ज्ञान के प्रति स्वल्प भी प्रयास परायण न होकर सज्जन के समीप में स्थित होकर साधुजन कर्त्तृक नित्य प्रकटित एवं स्वतः श्रुतिगत भवदीय वार्त्ता का अवलम्बन सत्कार पूर्वक काय-वाक्य-मन से करते हैं, वे अन्य कर्मानुष्ठान न करने पर भी त्रैलोक्य के मध्य में अपर के द्वारा आप जित न होने पर भी वे आपको जीतते हैं, अर्थात् वे सहज में ही आपको प्राप्त कर लेते हैं ॥४४८॥

अथ स्वतः परमपुरुषार्थता

तृतीये श्रीसनकादि-स्तुतौ (१५।४८)—

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं, किन्वान्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते ।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः, कीर्त्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ॥४४९॥

चतुर्थे श्रीभगवन्तं प्रति सिद्धानां स्तुतौ (७।३५)—

अयं ते कथामृष्टपीयूषनद्यां, मनोवारणः क्लेश-दावाग्निदग्धः ।
तृषार्त्तोऽवगाढ़ो न सस्मार दावं, न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः ॥४५०॥

अतएवोक्तं प्रथमस्कन्धे श्रीशौनकादिभिः (१।१९)—

वयन्तु न वितृप्याम उत्तमःश्लोकविक्रमे । यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ॥४५१॥

तनुवाङ्मनोभिः कृत्वा तैरपि त्वं जितोऽसि, किं पुनर्यत्नतः सतां स्थाने गत्वा भक्त्या त्वत्कथाश्रवणादिपरै-रित्यर्थः । तत्र तन्वा सह जितत्वं, सततविचित्रपरिचर्य्यादिशक्त्या, वाचा च सतत-त्वन्नामादिस्फूर्त्या, मनसा च सततचिन्तान्तराविर्भावेन; यद्वा, तैरेव तन्वादिभिः सह जितोऽसि, ततश्च तन्वा सह जितत्वं सततं श्रीमुर्त्तेः स्फूर्त्यादि, वाचा सह जितत्वञ्च तेनैव तत्स्तुत्यादिकं, मनसा सह जितत्वञ्च तेनैव तस्य ध्यानादिकमिति दिक् । अन्यत् समानम् । एवं ज्ञानानादरेण भगवत्कथाश्रवणपरताया माहात्म्यं दर्शितम् ॥४४८॥

आत्यन्तिकं मोक्षाख्यमपि ते प्रसादं वैकुण्ठलोकं वा ते न विगणयन्ति नाद्रियन्ते, किमुत अन्यत् ब्राह्मचादि-पदम् । ते तव भ्रुव उन्नयैरुज्जृम्भैरर्पितं निहितं भयं यस्मिन् तत्; के ते ? अङ्ग हे भगवन् ! ये भवतः कथायाः रसज्ञाः, यतः कुशला निपुणाः, यतस्तदङ्घ्रचेवाश्रयाः । कथम्भूतस्य ? रमणीयत्वेन पावनत्वेन च कीर्त्तन्यं कीर्त्तनार्हं तीर्थञ्च यशो यस्य तस्य । एवं कथारसज्ञानां वैकुण्ठलोकानादरेण कथायाः स्वतः परमफलत्वं सिद्धम् ॥४४९॥

अयं मनोगजः त्वत्कथैव मृष्टं शुद्धं परममधुरं वा पीयूषं, तन्मयी या नदी, तस्यामवगाढ़ः प्रविष्टः दावाग्नितुल्यं संसारतापं न स्मरति स्म, न च ततो निर्गच्छति, तस्यैव स्वतः परमपुरुषार्थत्वात् । ब्रह्म-सम्पन्नवत् — ब्रह्मैक्यप्राप्तोजनइव ॥४५०॥

एवं लीलाकथाश्रवणस्य पापादिशोधकत्वमारभ्य स्वतः परमपुरुषार्थतान्तं माहात्म्यं यथोत्तरश्रैष्ठ्यं क्रमेण लिखित्वा इदानीं केषुचिद्वचनेषु पूर्ववत् साक्षान्माहात्म्याभिधायकत्वाभावेऽपि तात्पर्य्येण तत्रैव

अथ स्वतः परमपुरुषार्थता

तृतीयस्कन्ध में श्रीसनकादि की स्तुति में लिखित है—हे भगवन् ! तुम्हारे यशः, कीर्त्तन करने के योग्य, तीर्थस्वरूप, अतिशय रमणीय, एवं परम पवित्र है । जो सब भगवच्चरणाश्रित विज्ञ व्यक्ति, तुम्हारी कथा में रसज्ञ हैं, वे आत्यन्तिक प्रसादरूप मुक्तिपद को भी नहीं गिनते हैं । विशेषतः तुम्हारी भ्रूभङ्गीभीति सङ्कुल अन्य इन्द्रादि पद की कथा ही क्या है ? ॥४४९॥

चतुर्थ स्कन्ध में श्रीभगवान् के प्रति सिद्धवृन्द की स्तुति में प्रकाशित है—हे भगवन् ! हमारा मनोमातङ्ग संसार क्लेश रूप दावाग्नि में दग्ध एवं तृष्णा से आर्त्त है । इस हेतु श्रीहरि-संकीर्त्तनरूप विशुद्ध अमृत नदी में अवगाहन स्नान करें, क्योंकि ऐसा होने से भव-सन्तापरूप दावाग्नि विस्मृत होगा एवं परब्रह्म के सहित ऐक्यप्राप्तजन के समान होने के कारण वहाँ से पुनर्वार निष्क्रमण नहीं होगा ॥४५०॥

अतएव प्रथमस्कन्ध में शौनकादि ने कहा है—हे सूत ! हम सब याग, योग प्रभृति अनुष्ठान में सुतृप्त हैं, किन्तु उत्तमश्लोक श्रीहरि के चरित्र श्रवण करते करते अभी तक वितृष्णा नहीं हुई है, कारण, उनके श्रवण से रसज्ञ व्यक्ति के पक्ष में पद पद में स्वादु से भी अतीव स्वादु बोध होता है ॥४५१॥

किञ्च (श्रीभा १।१८।१४)—

को नाम लोके रसवित् कथायां, महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु,-र्योगेश्वरा ये भवपाद्यमुख्याः ॥४५२॥

तृतीये श्रीविदुरेण (५।७)—

क्रीड़न् विधत्ते द्विजगोसुराणां, क्षेमाय कर्म्माण्यवतारभेदैः ।
मनो न तृप्यत्यपि शृण्वतां नः, सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानि ॥४५३॥

दशमस्कन्धे च श्रीपरीक्षिता (५२।२०)—

ब्रह्मन् कृष्णकथाः पुण्या माध्वीर्लोकमलापहाः ।
को नु तृप्येत शृणुवान् श्रुतज्ञो नित्यनूतनाः ॥४५४॥

पर्य्यवसानान्माहात्म्यदार्ढ्यायैव तानि संगृह्णाति—वयन्त्वित्यादिना सेव्यतामित्यन्तेन । एवमग्रेऽप्यन्यत्र बोद्धव्यम् । योगयागादिषु तृप्ताःस्म, उद्गच्छति तमो यस्मात् स उत्तमः, तथाभूतः श्लोका यशो यस्य तस्य विक्रमे तु विशेषेण न तृप्यामः, अलमिति न मन्यामहे । अत्र हेतु —यद्विक्रमं शृण्वतां, यद्वा, अन्ये तृप्यन्तु नाम, वयन्तु नेति तु-शब्दस्यान्वयः । अयमर्थः—त्रिधा ह्यलंबुद्धिर्भवति, उदरादिभरणेन वा, रसाज्ञानेन वा, स्वादविशेषाभावाद्वा । अत्र शृण्वतामित्यनेन श्रवस्याकाशत्वात् न भरणमित्युक्तम् । रसज्ञानामित्यनेन च अज्ञानतः पशुवत्तृप्तिर्निराकृता । इक्षुभक्षणवद्रसान्तराभावेन तृप्तिं निराकरोति—पदे पदे प्रतिक्षणं स्वादुतोऽपि स्वाद्विति ॥४५१॥

रसवित् रसज्ञः, महत्तमानां श्रीनारदादीनामेकान्तं परमयनम् आश्रयो यस्तस्य कथायाम्, अगुणस्य प्राकृतगुणरहितस्य, कल्याणगुणानामन्तं ये योगेश्वरास्तेऽपि न जग्मुः, एतावन्त इति न परिगणयाञ्चक्रुः । भवः शिवः, पाद्यो ब्रह्मा च मुख्यो येषां ते ॥४५२॥

मत्स्याद्यवतारभेदैः क्रीड़न् यानि विचित्राणि कर्म्माणि विधत्ते, तानि सुश्लोकमौलेः सुश्लोकाः पुण्यकीर्त्तयस्तेषां मौलिरिवाधिक्येनोपरि विराजमानस्तस्य चरितामृतानि शृण्वतामपि नोऽस्माकं मनो न तृप्यति ॥४५३

पुण्याः महाफलाः, माध्वीः श्रुतिसुखाः, लोकस्य मलापहाश्च शृणुवान् शृण्वन्नित्यर्थः; श्रुतज्ञः श्रुतसारवित्, नित्यनूतनाः प्रतिक्षणमाश्चर्य्यवत् प्रतीयमानाः ॥४५४॥

और भी वर्णित है—शौनकादिक ने कहा—हे सूत ! महत्तम मानववृन्द का एकमात्र आश्रय एवं प्राकृत गुण रहित भगवान् श्रीकृष्ण के मङ्गलकर गुणसमूह का अन्त, योगेश्वर शिव ब्रह्मादि भी प्राप्त नहीं हुए हैं। अतः उन श्रीहरि की कथा में कौन रसज्ञ मानव तृप्त हो सकते हैं ॥४५२॥

तृतीयस्कन्ध में श्रीविदुर ने भी कहा है—हे ब्रह्मन् ! भगवान् मत्स्यादि अवतार ग्रहणपूर्वक क्रीड़ाकरतः गो, ब्राह्मण एवं देवगण के मङ्गल के निमित्त जो जो कर्म करते हैं, उसका वर्णन आप करें, पुण्यश्लोक शिरोमणि भगवान् श्रीहरि का चरितामृत जितना ही क्यों न सुनें— किसी से भी मन की तृप्ति का अन्त नहीं होता ॥४५३॥

दशमस्कन्ध में भी श्रीपरीक्षित् का कथन इस प्रकार है—श्रीकृष्ण की कथा महाफलप्रदा, श्रुतिसुखदा, लोकमलपहा एवं नित्य नव-नवायमाना, अर्थात् प्रतिक्षण में आश्चर्य्यवत् प्रतीयमाना है। उसको सुनकर श्रुतज्ञ व्यक्ति क्या तृप्त हो सकते हैं ? अतएव उसका वर्णन आप करें ॥४५४॥

अतो हि श्रीपृथुराजेन प्रार्थितम् (श्रीभा ४।२०।२४)—

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचि,-न्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो, विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥४५५॥

अतएव निश्चित्योक्तं पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये अम्बरीषं प्रति श्रीनारदेन—

नातः परं परमतोष-विशेषतोषं, पश्यामि पुण्यमुचितञ्च परस्परेण ।
सन्तः प्रसज्य यदनन्तगुणाननन्त,-श्रेयोविधीनधिकभावभुजो भजन्ति ॥४५६॥

प्रथमस्कन्धे श्रीसूतेन (१८।१०)—

या याः कथा भगवतः कथनीयोरुकर्म्मणः ।
गुणकर्म्माश्रयाः पुम्भिः संसेव्यास्ता बुभूषुभिः ॥४५७॥

दशमस्कन्धशेषे च श्रीबादरायणिना (९०।४९)—

इत्थं परस्य निजधर्म्मरिरक्षयात्त,-लीलास्तनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।
कर्म्माणि कर्म्मकषणानि यदूत्तमस्य, श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् ॥४५८॥' इति।

महत्तमानामन्तर्हृदयान्मुखद्वारा निर्गतो युष्माकं तव त्वदीयानाञ्च पदाम्भोज-मकरन्दयशःश्रवणसुखं यत्र नास्ति, तत् कैवल्यमपि क्वचित् कदाचिदपि न कामये। तर्हि किं कामयसे ? तदाह—यशःश्रवणाय कर्णानामयुतं विधत्स्व। ननु कोऽप्येवं न वृतवानस्ति ? किमन्यच्चिन्तय ? इत्याह—मम तु एष एव वर इति ॥४५५॥

परस्परेण आसज्य अन्योन्यमासक्तिं कृत्वा अनन्तस्य भगवतो गुणान्, अधिकभावभुजः भक्तिविशेषयुक्ताः सन्त इत्यर्थः ॥४५६॥

किं बहुना, एतावदेव कर्त्तव्यमिति सर्व्वशास्त्रसारं कथयति—या या इति। कथनीयानि उरूणि कर्म्माणि यस्य तस्य, गुणकर्म्माश्रया गुणकर्म्मविषयाः, बुभूषुभिः सद्भावमिच्छद्भिः ॥४५७॥

इत्थमुक्तप्रकारेण निजधर्म्मो भगवद्धर्म्मः, तस्य रिरक्षया स्वीकृतमत्स्यकूर्म्मादिनानामूर्त्तेः परमेश्वरस्य विशेषतो यदूत्तमस्य सतः तदनुरूपानुकारीणि कर्म्मकषणानि कर्म्मनिबन्धननिरसनानि कर्म्माणि च चरितानि श्रूयात् शृणुयादित्यर्थः। यद्वा, भवान् श्रूयादिति श्रीपरीक्षितं प्रति; यद्वा, सर्व्वोऽपि जनः श्रूयादिति सर्व्वलोकं प्रति श्रीबादरायणेराशीः, एवमपि तदेव तात्पर्य्यम्। अनुवृत्तिं तदेकनिष्ठताम् ॥४५८॥

चतुर्थ स्कन्ध में श्रीपृथुराज की प्रार्थना यह है—हे प्रभो ! मैंने आपको "कैवल्यपति" शब्द से सम्बोधन किया है, इससे आप न समझें कि मैं मुक्ति प्रार्थी हूँ। हे नाथ ! मोक्षपद में भी यदि महत्तम साधुपुरुषगण के वदनकमल द्वारा हृदयाभ्यन्तर से आपके पदाम्बुज का मकरन्द प्राप्त करने की आशा हो तो, अर्थात् आपका यशः श्रवण द्वारा सुख प्राप्ति की सम्भावना न हो तो उक्त पद प्राप्ति की प्रार्थना मैं कदाच नहीं करता हूँ। मैं यह वर चाहता हूँ कि हृदय पूर्ण कर आपका यशः सुन सकूँ तज्जन्य मुझको आप दश हजार कर्ण प्रदान करें ॥४५५॥

अतएव पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में श्रीअम्बरीष के प्रति श्रीनारद ने निश्चय कर कहा है—भक्ति विशेषयुक्त भगवद्भक्तगण, परस्पर आसक्त होकर अनन्त भगवान् के अनन्त गुणसमूह का जो भजन करते हैं, तदपेक्षा परम परितोष का विशेष पोषक, समुचित पुण्य और हृष्ट नहीं होता है ॥४५६॥

प्रथमस्कन्ध में श्रीसुत वाक्य इस प्रकार है—अद्भुत कर्मा भगवान् के गुण कर्म विषयक जो कथा है, सद्भावनाभिलाषी व्यक्तिमात्र के पक्ष में ही उसका श्रवण करना उचित है ॥४५७॥

दशमस्कन्ध के शेष में श्रीशुक वाक्य इस प्रकार है—जिन्होंने निज धर्म रक्षा के निमित्त लीलाविग्रह

अतः कृष्णकथायान्तु सत्यामन्यकथाश्रुतिम् । तदश्रुतिञ्च वैमुख्यं तस्यां तृप्तिमपि त्यजेत् ॥४५९

अथ श्रीभगवत्कथात्यागादिदोषः

तृतीयस्कन्धे कपिलदेवहूति-संवादे (३२।१९)—

नूनं दैवेन निहता ये चाच्युतकथासुधाम् । हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः ॥४६०

तत्रैव श्रीवैकुण्ठवर्णने (१५।२३)—

यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा,-च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः ।

यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा,-स्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त ॥४६१॥

किञ्च, स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे—

वाच्यमानन्तु ये शास्त्रं वैष्णवं पुरुषाधमाः । न शृण्वन्ति मुनिश्रेष्ठ तेषां स्वामी सदा यमः ॥४६२

अतोऽस्माल्लिखिताद्धेतोः, सत्यां वर्त्तमानायान्तु अन्यकथायाः श्रुतिं श्रवणं, तथा तस्याः कृष्णकथाया अश्रुतिमश्रवणं, तथा तस्यां कृष्णकथायां वैमुख्यम्, अश्रद्धया बलात्ततः पराङ्मुखत्वमित्यर्थः । तृप्तिं किञ्चित् श्रवणानन्तरं तत्र विरक्त्या अलंबुद्धिमपि त्यजेत् वर्ज्जयेत् ॥४५९॥

एतदेव क्रमेण दर्शयति—नूनमित्यादिना पशुघ्नादित्यन्तेन । तत्रादौ अन्यकथाश्रवणदोषं लिखति—नूनमिति द्वाभ्याम् । ये तु अच्युतस्य कथासुधां हित्वा असतां गाथां शृण्वन्ति, ते नूनं दैवेन निहताः ॥४६०॥

यत् वैकुण्ठं न व्रजन्ति; के? ये कुकथाः शृण्वन्ति । कास्ताः? अघं पापं संसारदुःखं वा भिनत्ति नाशयतीति; यद्वा, अघासुरं भिनत्ति मूर्ध्नि विदारितवान् यः, सोऽघभित् तस्य, श्रीकृष्णस्य रचना सृष्टयादि-लीला, शाद्वलजेमना दक्रीड़ा वा, तस्य अनुवादात् कथनादन्यविषयाः अर्थकामादिवार्त्ता यागयोगाद्याश्रया वा मतिभ्रंशिकाः । तेषामव्रजने हेतुः—अशरणेषु निराश्रयेषु, यद्वा, न केवलं तेषां तत्राव्रजनमात्रं, ताभिश्च तेषां पुण्यक्षयो दुस्तर-नरकपातश्च भवतीत्याह—यास्तु हतभाग्यैरेव नरैः श्रुताः सत्यस्तांस्तान् श्रोतॄन् अशरणेषु निराश्रयेषु तमःसु नरकेषु क्षिपन्ति । हन्त खेदे; कथम्भूताः? आत्तं सारं श्रोतॄणां पुण्यं याभिस्ताः ॥४६१॥ अथाश्रवणदोषं लिखति—वाच्यमानन्तु इत्यादि चतुर्भिः । सदा यमः स्वामीति, सततं नरके वास इत्यर्थः ॥४६२॥

अर्थात् लीला से देह धारण किया है, उनके चरण-कमल के प्रति एकनिष्ठा प्राप्त्यभिलाषी व्यक्तिगण के पक्ष में यदूत्तम श्रीकृष्ण के तदनुरूप कर्म एवं चरितसमूह का श्रवण करना कर्त्तव्य है । ४५८।।

अतएव कृष्ण-कथा की विद्यमानता में अन्य कथा श्रवण, भगवत्-कथा का श्रवण न करना, अश्रद्धा-पूर्वक कृष्ण-कथा में पराङ्मुख होना एवं कृष्ण-कथा में तृप्त होना अर्थात् किञ्चित् श्रवण करके विरक्ति पूर्वक अलंबुद्धि प्रकाश करना इन सब बातों को छोड़ देना चाहिये ॥४५९॥

अथ श्रीभगवत्कथात्यागादिदोषः

तृतीयस्कन्ध के कपिल-देवहूति-संवाद में वर्णित है—जो मनुष्य, भगवान् अच्युत के कथामृत को परित्याग कर विष्ठाभोजी शूकर के पुरीषभोजन के समान असत्गाथासमूह का श्रवण करते हैं, उन सबको निश्चय ही दैवहत जानना होगा, अर्थात् वे सब भाग्यहीन होते हैं ॥४६०॥

तृतीयस्कन्ध के वैकुण्ठ वर्णन में लिखित है—जो मनुष्य, पापनाशन, श्रीभगवान् के सृष्टयादि लीलानुवाद से पराङ्मुख होकर अर्थकामादि विषयक मतिविभ्रंशिका कुकथा श्रवण करते हैं, वे सब कभी भी वैकुण्ठ गमन नहीं कर सकते हैं । उसके दौर्भाग्य की कथा क्या कहूँ । अन्य विषयक कुकथा श्रवण, उन सबको पूर्वार्जित पुण्यसमूह का अपहरणकर निराश्रय निरय में निक्षेप करता है ॥४६१॥

और भी स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में उक्त है—जो सब नराधम मनुष्य, पठ्यमान वैष्णवशास्त्र

न श्रृण्वन्ति न हृष्यन्ति वैष्णवीं प्राप्य ये कथाम् ।
धनमायुर्यशो धर्म्मः सन्तानश्चैव नश्यति ॥४६३॥

न श्रृणोति हरेर्यस्तु कथां पापप्रणाशिनीम् । अचिरादेव देवर्षे समूलन्तु विनश्यति ॥४६४॥

द्वितीयस्कन्धे श्रीशौनकोक्तौ (३।२० —

विले वतोरुक्रम-विक्रमान् ये, न श्रृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत, न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥४६५॥

तृतीये श्रीब्रह्मस्तुतौ (९।७, ५।१४)—

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात्, सर्व्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये ।
कुर्व्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना, लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत् ॥४६६॥
तान् शोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे, हरेः कथायां विमुखानघेन ।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषा,-मायुर्वृथावाद-गतिस्मृतीनाम् ॥४६७॥

न श्रृण्वतः अश्रृण्वतो नरस्य ये कर्णपुटे, ते विले वृथारन्ध्रे इत्यर्थः । न चेदुपगायति, तस्य जिह्वा असती दुष्टा, दर्दुरो भेकस्तदीय-जिह्वेव ॥४६५॥

वैमुख्यदोषं लिखति—दैवेनेति द्वाभ्याम् । प्रसङ्गात् श्रवणकीर्त्तनादिरूपात् कथाया वा, सर्व्वाणि अशुभानि अमङ्गलानि दुःखानि वा उपशमयतीति तथा तस्मात् । विमुखानि अश्रद्धया निवृत्तानि इन्द्रियाणि येषां ते, विमुखेन्द्रियत्वं तत्फलं तद्धेतुं वा अभिव्यञ्जयति - कुर्व्वन्तीति । अकुशलानि अक्षेमकराणि कर्म्माणि ॥४६६॥

एवम्भूतायां कथायां ये न रमन्ते, शोच्यशोच्यान्—शोच्या ये तेषामपि शोच्यान्, ततः अविदः भारतादि-तात्पर्य्यानभिज्ञान् हरिकथानभिज्ञान् वा शोच्यान् । ये ज्ञात्वापि हरेः कथायां विमुखास्तान्, तेषामपि शोच्यानिति योज्यम् । अनिमिषः कालो येषामायुः क्षपयति, अत्र हेतुः—वृथैव भगवत्कथावैमुख्येन विफला वादगतिस्मृतयः वाग्देहमनोव्यापारा येषां तेषाम् ॥४६७॥

श्रवण नहीं करते हैं, हे मुनिश्रेष्ठ ! सर्वदा उनके पक्ष में यमराज ही प्रभु हैं । अर्थात् वे सब निरन्तर नरक में वास करते हैं । जो मनुष्य वैष्णवी कथा प्राप्त कर भी उसका श्रवण नहीं करते हैं, एवं उससे हर्षान्वित नहीं होते हैं, उनके धन, आयु, यशः, धर्म एवं सन्तान विनष्ट होते हैं । हे देवर्षे ! जो मनुष्य, पापप्रणाशिनी श्रीहरि-कथा श्रवण नहीं करते हैं, वे मूलतः विनष्ट होते हैं ॥४६२-४६४॥

द्वितीयस्कन्ध में श्रीशौनकोक्ति में लिखित है—मनुष्य के जो कर्णद्वय हरिकथा श्रवण में पराङ्मुख हैं, वे दोनों वृथा छिद्र स्वरूप ही हैं । एवं जो दुष्टा जिह्वा भगवत्कथा का गान नहीं करती है, वह भेक जिह्वा के सदृश है ॥४६५॥

तृतीयस्कन्ध में श्रीब्रह्मस्तुति में लिखित है—जो मनुष्य, भवदीय सर्वदुःख निवर्त्तक लीला-कथा-प्रसङ्ग से विमुख होकर तुच्छ कामसुखाशा से लुब्ध होकर निरन्तर अमङ्गलकर कार्य्य करते रहते हैं, वे सब निश्चय ही दुर्भाग्यवशतः अत्यन्त हतबुद्धि हैं ॥४६६॥

तृतीयस्कन्ध में श्रीविदुर वाक्य यह है—पापवशतः हरिकथा में पराङ्मुख, शोच्यवर्ग से भी शोचनीय उन मूढ़ व्यक्तिगण के निमित्त मैं चिन्तित हूँ, जो वृथा कायिक, वाचिक, मानसिक प्रयत्न में रत हैं, एवं जिनकी आयु निरन्तर काल के द्वारा अपहृत हो रही है ॥४६७॥

श्रीमैत्रेयोक्तौ च (श्रीभा ३।१३।५०)—

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्, पुराकथानां भगवत्कथासुधाम् ।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा,-महो विरज्येत विना नरेतरम् ॥४६८॥

चतुर्थे श्रीपृथुस्तुतौ च (२०।२६)—

यशः शिवं सुश्रव आर्य्यसङ्गमे, यदृच्छया चोपशृणोति तेऽसकृत् ।
कथं गुणज्ञो विरमेद्‌विना पशुं, श्रीर्यत् प्रवव्रे गुणसंग्रहेच्छया ॥४६९॥

दशमारम्भे श्रीपरीक्षितप्रश्ने (१।४)—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमाना,-द्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमःश्लोकगुणानुवादात्, पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥४७०॥

तृप्तिदोषं लिखति—को नामेति त्रिभिः । पुराकथानां पूर्व्ववृत्तानां मध्ये भगवत्कथासुधां कथञ्चिदापीय को विरज्येत ? विरमेत् विरक्त्या तृप्तिं यातीत्यर्थः । नरेतरं पशुं विना, सारासारज्ञानाभावात् ॥४६८॥

ननु भक्तिर्मुक्तिफला, अतः फलं विहाय साधने कोऽयमाग्रह ? इत्याशङ्क्याह—यश इति । हे सुश्रवो मङ्गलकीर्त्ते ! शिवं परमसुखात्मकं ते यशः सतां सङ्गमे यः सकृदपि यदृच्छयापि उप श्रोतृणां समीपे उपविष्ट-गात्रोऽपि शृणोति, गुणज्ञश्चेत् कथामाहात्म्याभिज्ञश्चेत्, स कथं विरमेत् ? पशुं विना—पशुरेव विरमति, नान्य इत्यर्थः । गुणातिशयं सूचयति, श्रीर्यत् यश एव प्रकर्षेण वृतवती. गुणानां सर्व्वपुरुषार्थानां संग्रहः समाहारस्तदिच्छया, अतो यशःसेवयैव परमानन्दोऽवान्तरफलत्वेनाखिलार्थसिद्धिरपीति; किं मूलपरित्यागेन पत्रमात्रच्छायाश्रयणेनेति दिक् । अथवा मत्कथाश्रवणमात्रेण कृतार्थ एवासि, किं पुनस्तच्छ्रवणाग्रहेण ? तत्राह—यश इति । अन्यथा गुणज्ञत्वाभावेन पशुत्वापत्तेरिति भावः, अन्यत् समानम् ॥४६९॥

अत्र लोके त्रिविधा जनाः—मुक्ता मुमुक्षवो विषयिणश्च, तेषां मध्ये कस्यापि नात्रालंप्रत्यय इत्याह—निवृत्ततर्षैरिति, गततृष्णैर्मुक्तैरपीत्यर्थः । मुमुक्षूणां परमो विषयोऽयमेवेत्याह—श्रोत्रमनोऽभिरामादिति । उत्तमः श्लोकस्य श्रीकृष्णस्य गुणा भक्तवात्सल्यादयः; यद्वा, उत्तमश्लोका युधिष्ठिरादयो भगवद्भक्तास्तेषामपि गुणा महिमानः, तेषामनुवादः कथनं तस्मात्; यद्वा, अनुवादयतीति अनुवादः श्रवणं, श्रोतृणां श्रवणेनैव वक्तुर्वचनप्रवर्द्धनात् ; यद्वा , अनुवादः कथा आख्यायिकेत्यर्थः , तस्मात् को विरज्येत , निर्विण्णो भवेत्

श्रीमैत्रेयोक्ति में प्रकाशित है—अहो ! जगत् में पशुव्यतीत पुरुषार्थ सारवेत्ता कौन मनुष्य पुराण में कथित संसार नाशक हरिकथारूप अमृत का पान श्रवणाञ्जलि के द्वारा नहीं करते हैं ॥४६८॥

चतुर्थस्कन्ध में श्रीपृथुमहाराज का कथन है—हे भगवन् ! मैं फलस्वरूप मुक्ति को परित्याग करके साधनाङ्ग भक्ति की प्रार्थना करता रहता हूँ, इससे आप कुछ मन में न करें । परम मङ्गलस्वरूप भवदीय यशः, साधुसङ्ग द्वारा यदृच्छाक्रम से जिस मनुष्य के कर्णगोचर होता है, गुणज्ञ होने से, वह क्या उससे विरत होगा ? फलतः पशुव्यतीत कोई भी व्यक्ति उससे निवृत्त होने का इच्छुक नहीं हैं । कारण, स्वयं पद्मालया कमला भी समस्त पदार्थ संग्रहेच्छु होकर उक्त यशः श्रवणाभिलाषिणी हुई थीं ॥४६९॥

दशमस्कन्ध के आरम्भ में श्रीपरीक्षित् प्रश्न में सुव्यक्त है—हे ब्रह्मन् ! इस जगत् में त्रिविध मनुष्य हैं, मुक्त, मुमुक्षु एवं विषयी । इन तीनों के मध्य में किसी का भी भगवत् चरित्र श्रवण में अलंबुद्धि नहीं होती है । फलतः उत्तमश्लोक भगवान् का गुणानुवाद, मुक्तजन कर्त्तृक सतत परिकीर्त्तित है । वह भवरोग विनाशक परमौषध है, मुमुक्षुवृन्द का मोक्षोपाय है । श्रवणमनोऽभिराम होने के कारण विषयीवृन्द का भी एकमात्र उपजीव्य है । अतएव आत्मघाती पशुव्यतीत कौन मनुष्य उससे विरत होगा ? ॥४७०॥

अतएवोक्तं देवैः पञ्चमस्कन्धे (१९।२३)—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा, न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।

न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः, सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥४७१॥

अतो निषेव्यमाणाञ्च सर्व्वथा भगवत्कथाम् । मुहुस्तद्रसिकान् पृच्छेन्मिथो मोदविवृद्धये ॥४७२

विरमेदित्यर्थः । एवं मुक्तानां परमफलत्वेन मुमुक्षूणां संसारदुःख-विनाशनात्मानन्द-प्रकाशनयोः परमसाधनत्वेन, विषयिणां चेन्द्रियसुखप्रदत्वेन सदा सेव्यत्वान्न केषाञ्चिदपि तृप्तिरुचितेति भावः । यद्यपि मुक्तानां मुमुक्षूणामपि वस्तु-स्वभावतः श्रोत्रमनोऽभिरामत्वं स्यादेव, तथापि 'एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं, वाञ्छन्ति ये वै भगवत्-प्रपन्नाः । अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं, गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥' (श्रीभा ८ ३।२०) इत्यादि-न्यायेन श्रीनारदादीनामिव, 'जितन्ते पुण्डरीकाक्ष' इत्यादि-संकीर्त्तनपर-श्रीश्वेतद्वीपनिवासिनामिव च मुक्तानां प्रायः कीर्त्तनपरत्वेन वहिरन्तश्चानन्दरगनिमग्नत्वात्, तथा मुमुक्षूणां केवलं मोक्षमात्रापेक्षया बहिःश्रोत्रमनोऽभि-रामतानपेक्षणात् । इन्द्रियसुखैकापेक्षकाणां विषयिणामेव विषयासक्त्या लज्जादिना च कीर्त्तनासम्भवात् श्रवणमात्रद्वारा श्रोत्रमनोऽभिरामत्वमुक्तम्; यद्वा, उपगानेन मुक्तानामपि स्वत एव श्रोत्रमनोऽभिरामता सिध्यत्येव, मुमुक्षूणाञ्च भवौषधत्वेन सदा तत्कीर्त्तन-श्रवण-स्मरणम्, तेन च तत्तदिन्द्रियाभिरामत्वं सिध्यत्येव । विषयिणाञ्च पूर्व्वोक्तयुक्त्या केवल-श्रोत्रमनसोरेवाभिरामत्वम् । यद्यपि विषयिणामपि कदाचित् ज्ञानादिना वागभिरामत्वमपि घटेत, तथापि श्रीपरीक्षिता निजश्रवणापेक्षया श्रीगुणगौरवेण च तथोक्तम् । एवं गुणानु-वादस्य साध्यत्वं साधनत्वञ्च दर्शितम् । तत्र स्तुतिक्रमोल्लङ्घनेन साध्यत्वात् पश्चात् साधनत्वोक्तिः, श्री-परीक्षितो विनयभरेण विषयिषु निजान्तःपातविवक्षया । अतः सर्व्वथा सर्व्वसेव्यात्तस्मात् को विरज्येत ? किञ्च, पुमांश्चेत्, स्त्रीवदशक्तः क्लीवचित्तश्च कथञ्चिद्विरज्येतापीत्यर्थः; यद्वा, पुंस एव सर्व्वत्र प्राधान्यात् पुमानित्युक्तम् । तेन च सर्व्वोऽपि जन उपलक्ष्यते । अपगता शुक् शोको यस्मात् तमात्मानं हन्तीति अपशुघ्नस्तस्मात्, 'घुटो घुट्येव वर्गे' इति गकारलोपः । पशुघातिनो व्याधादिति वा । विषयित्व सम्भवेऽपि पशुघातार्थनिरन्तरारण्यपरिभ्रमणादि-महादुःखेन लोकद्वय-सुखोपेक्षया विषयित्वस्याप्यसिद्धेः पृथग्निर्द्देशः । अस्मिन् श्लोके आपीयेत्याद्यभावेऽपि श्रवणानन्तरं को विरज्येतेत्येव ज्ञेयम् । नवमस्कन्ध-कथाश्रवणानन्तरमेव श्रीपरीक्षित एवैतदुक्तेरिति दिक् । अलमतिविस्तरेण ॥४७०॥

यत्र वैकुण्ठकथामृतनद्यो न सन्ति, मधुरमधुरा भगवत्कथाः सततं न वर्त्तन्ते, यद्वा, वैकुण्ठस्य कथासुधा आपगाश्च श्रीगङ्गायमुनादिनद्यः, वैकुण्ठ शब्देन तत्कथासुधापगानामप्यकुण्ठत्वं सर्व्वथा सूचितम् । तदाश्रयाः कथापगाश्रयाः, महान्तो नृत्याद्युत्सवा येषु तथाभूता, यज्ञेशस्य विष्णोर्मखाः पूजाः; यद्वा, महोत्सवाश्च जन्माष्टम्यादिविषयकाः, यज्ञेश-शब्देन स एव मखयोग्यः, न त्वन्य इत्यभिप्रेतम् । यद्वा, गोवर्द्धन-मख-प्रवर्त्तक-स्तद्यज्ञभोक्ता श्रीगोवर्द्धनधरः श्रीकृष्णोऽभिहितः । सुरेशस्य ब्रह्मणोऽपि लोको न सेव्यतां, श्रद्धया चिरं नोपभुज्यतां, किन्तु द्रुतमेव परित्यज्यतामित्यर्थः; यद्वा, सेवितुं न गम्यतामित्यर्थः । वै प्रसिद्धौ ॥४७१॥

अतोऽस्मान्माहात्म्यविशेषाद्धेतोः, अप्यर्थे चकारः, सर्व्वथा श्रवण-कीर्त्तन-स्मरणाद्यखिल प्रकारेण निरतां सेव्यमानामपि, मिथः प्रष्टृश्रोतृवक्तॄणामन्योऽन्यं प्रीतिविवृद्धये भगवत्कथारसिकान् पृच्छेत् ॥४७२॥

अतएव पञ्चमस्कन्ध में देवगण की उक्ति है—जहाँ पर भगवान् की कथारूप सुधावाहिनी नदी नहीं है, जहाँ भक्त एवं भगवान् का अधिष्ठान नहीं है, जिस स्थान में नृत्यादि महोत्सव समन्वित यज्ञेश्वर भगवान् की यज्ञरूप पूजा नहीं होती है, वह स्थान ब्रह्मलोक होने पर भी सेवन के योग्य नहीं है ॥४७१॥

अतएव भगवत् कथा श्रवण सर्व प्रकार होने पर भी भगवत् कथा रसिक व्यक्तिगण के निकट उसकी जिज्ञासा बारम्बार करनी चाहिये, ऐसा होने पर पारस्परिक आनंद वृद्धि होती है ॥४७२॥

अथ भगवत्कथासक्तिः

दशमस्कन्धे (१३।२)—

सतामयं सारभृतां निसर्गो, यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ।
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत्, स्त्रिया विटानामिव साधुवार्त्ता ।।४७३।।

अतएव तत्रैव (श्रीभा १२।८७।११)—

तुल्यश्रुततपःशीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः । अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ।।४७४।।इति ।
तथा वैष्णवधर्म्मांश्च क्रियमानानपि स्वयम् । संपृच्छेत्तद्विदः साधुनन्योऽन्यप्रीतिवृद्धये ।।४७५।।
श्रद्धया भगवद्धर्म्मान् वैष्णवायानुपृच्छते । अवश्यं कथयेद्विद्वानन्यथा दोषभाग्भवेत् ।।४७६।।

तदुक्तम्—

नाख्याति वैष्णवं धर्म्मं विष्णुभक्तस्य पृच्छतः ।
कलौ भागवतो भूत्वा पुण्यं याति शताब्दिकम् ।।४७७।।

सारभृतां सारग्राहिणां सतामयमेव निसर्गः स्वभावः । कोऽसौ ? अच्युतस्य वार्त्ता प्रतिक्षणं साधु यथा स्यात्तथा नव्यवद्भवतीति यत् । विटानां स्त्रैणानां स्त्रियाः कामिन्या वार्त्तेव । कथम्भूतानामपि सताम् ? अच्युतवार्त्तैव अर्थो येषां तानि वाणीश्रुतिचेतांसि येषां तथाभूतानामपि । ४७३।।

अतएव श्रीसनकादयस्तथा चक्रुरिति लिखति—तुल्येति । श्रुतादिभिरविशेषाः अरिमित्रोदासीन-हीनत्वेन निरुपमकरुणाः, अतः सर्व्वे प्रवचनयोग्या अपि भगवत्कथारसिकतया एकं प्रवक्तारमन्यश्च प्रष्टारं कृत्वा परे शुश्रूषुरित्यर्थः ।।४७४।।

तथेति पूर्व्वलिखित-समुच्चये । स्वयं क्रियमाणानपि वैष्णवधर्म्मान् ये विदन्ति, तान् साधून् सम्यक् पृच्छेत् ।।४७५।।

ननु भगवद्धर्म्माः परमगोप्याः प्रश्नमात्रेण कथं कथ्याः ? तत्र लिखति—श्रद्धयेति । विद्वान् वैष्णव-धर्म्माभिज्ञश्चेत्, अवश्यं कथयेदेव; कुतः ? वैष्णवाय तत्र च श्रद्धया वारं वारं पृच्छते । चतुर्थी द्वितीयार्थे सुगमत्वाय ।।४७६।।

अथ भगवत्कथासक्तिः

दशमस्कन्ध में लिखित है—हे राजन् ! सारग्राहि साधुपुरुषवृन्द का अच्युत चरित्र ही एकमात्र वाक्य, कर्ण एवं चित्त का विषय है, उनके स्वभाव ही यह है कि—स्त्रैण पुरुषों की कामिनी वार्त्ता के समान भगवान् की कथा अनुक्षण नव्यवत् प्रतीयमान होती है ।।४७३।।

अतएव उक्त दशमस्कन्ध में ही लिखत है—तत्रस्थ ऋषिवृन्द, स्वाध्याय, तपः एवं चरित्र विषय में समान एवं अरि, मित्र, उदासीन के प्रति समबुद्धि विशिष्ट होने पर भी भगवत् कथा लोलुप होकर एक व्यक्ति को वक्ता रूप में वरण कर अपर समस्त व्यक्ति श्रोता हुये थे ।।४७४।।

स्वयं वैष्णव धर्म का अनुष्ठान करने पर भी पारस्परिक प्रीति वृद्धि के निमित्त साधुवृन्द के निकट वैष्णवधर्म विषयक जिज्ञासा करे । श्रद्धापूर्वक बारम्बार वैष्णवधर्म की जिज्ञासा करने पर वैष्णवधर्माभिज्ञ व्यक्ति अवश्य ही वैष्णव को वैष्णवधर्म कहेंगे नहीं तो दोष का भागी होना पड़ता है ।।४७५-४७६।।

उक्त विषय में और भी वर्णित है—कलिकाल में विष्णुभक्त व्यक्ति वैष्णव धर्म जिज्ञासा करने पर भगवद्भक्त होकर यदि जिज्ञासु को वैष्णव धर्म नहीं कहते हैं, तो उनका शतवर्षार्जित पुण्य विनष्ट होता है। ।।४७७।।

अथ श्रीभगवद्धर्म्मप्रतिपादन-माहात्म्यम्

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे—

वैष्णवे वैष्णवं धर्म्मं यो ददाति द्विजोत्तमः। ससागर-महीदाने यत् फलं लभतेऽधिकम् ॥४७८॥

किञ्च, तत्रैव—

अज्ञानाय च यो ज्ञानं दद्याद्धर्म्मोपदेशनम्।
कृत्स्नां वा पृथिवीं दद्यात्तेन तुल्यं हि तत् स्मृतम् ॥४७९॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

तत्कथां श्रावयेद्यस्तु तद्भक्तान् मानवोत्तमः। गोदानफलमाप्नोति स नरस्तेन कर्म्मणा ॥४८०॥

पाद्मे देवदूतविकुण्डल-संवादे—

ज्ञानमज्ञाय यो दद्याद्वेदशास्त्रसमुद्भवम्। अपि देवास्तमर्च्चन्ति भवबन्धविदारकम् ॥४८१॥

बृहन्नारदीये—

सत्सङ्गदेवार्च्चन-सत्कथासु, परोपदेशेऽभिरतो मनुष्यः।
स याति विष्णोः परमं पदं तत्, देहावसानेऽच्युततुल्यतेजाः ॥४८२॥

ते च श्रीभगवद्धर्म्मा भगवद्भक्तलक्षणैः। व्यञ्जिताः कतिचिन्मुख्या लिख्यन्तेऽत्र परेऽपि ते ॥४८३

यत् फलं, ततोऽप्यधिकं लभते ॥४७८॥

विशेषतश्च भगद्धर्म्मं सम्यगजानते वैष्णवाय अवश्यं कथयेदित्याह—अज्ञानायेति। भगवद्धर्म्मोपदेशनरूपं ज्ञानं; यद्वा, सामान्यधर्म्मोपदेशरूपमपि ॥४७९॥

अर्च्चन्ति अर्च्चयन्ति, यतः आत्मनोऽन्येषामपि संसारमोचकम् ॥४८१॥

सत्सङ्गादिषु परोपदेशे च योऽभिरतः; यद्वा, सत्सङ्गादिषु विषयेषु यः परं प्रत्युपदेशस्तस्मिन् योऽभिरतः; तत् अनिर्व्वचनीयम्, यद्वा, तस्य उपदेशसम्बन्धिनो देहस्यान्त एव, न तु जन्मान्तरे इत्यर्थः। भगवत्तुल्यतेजाः सन् सारूप्यादिप्राप्तेः ॥४८२॥

के ते वैष्णवधर्म्माः? इत्यपेक्षायां लिखति—पूर्व्वलिखितैर्भगवद्भक्तानां लक्षणैर्द्वारभूतैर्मुख्याः श्रेष्ठाः कतिचिद्व्यञ्जिता व्यक्तीकृता एव, अपरेऽपि ते श्रीभगवद्धर्म्माः कतिचिदत्र लिख्यन्ते। श्रीभगवद्धर्म्माः भक्तेरङ्गान्येव, तानि च मुख्यानि गौणानि च कानिचिच्च तत्साधनानि सर्व्वाण्येव एकत्रात्र लेख्यानीत्यर्थः ॥

अथ श्रीभगवद्धर्म्मप्रतिपादन-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है—जो द्विजश्रेष्ठ, वैष्णव को वैष्णवधर्म प्रदान करते हैं, ससागरा पृथिवी दान करने से जो फल होता है उससे अधिक फल धर्म दान से होता है ॥४७८॥

और भी उक्त स्थान में लिखित है—जो मनुष्य, अज्ञान व्यक्ति को धर्मोपदेश रूप ज्ञान दान करते हैं, समस्त पृथिवी दान करने से जो पुण्य लाभ होता है, तद्रूप पुण्य लाभ धर्मोपदेश से होता है ॥४७९॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—जो मानवश्रेष्ठ, विष्णुभक्तवृन्द को विष्णुकथा श्रवण कराते हैं, वे गोदान-जनित फल के समान फल लाभ करते हैं ॥४८०॥

पद्मपुराण के देवदूत-विकुण्डल-संवाद में लिखित है—जो मानव, वेदशास्त्र समुत्पन्न ज्ञान प्रदान अज्ञ व्यक्ति को करते हैं, उन संसार मोचक व्यक्ति की पूजा देववृन्द भी करते रहते हैं ॥४८१॥

बृहन्नारदीय पुराण में लिखित है—जो मनुष्य, सत्सङ्ग, देवपूजा, सत्कथा एवं परोपदेश में अनुरक्त हैं, वे इस देह का अवसान होने पर भगवत्तुल्य तेजस्वी होकर श्रीविष्णु के परमपद गमन करते हैं ॥४८२॥

पूर्व वर्णित भगवद्भक्त लक्षण द्वारा कतिपय मुख्य धर्म का प्रकाश हुआ है, यद्यपि उक्त भगवद्धर्म समूह

ते तु यद्यपि विख्याताः श्रीमद्भागवतादिषु । तथापि यत्नादेकत्र संगृह्यन्ते ससाधनाः ॥४८४॥

अथ भगवद्धर्म्माः

ते चोक्ताः काशीखण्डे द्वारकामाहात्म्ये चन्द्रशर्म्मणा—

अद्य प्रभृति कर्त्तव्यं यन्मया कृष्ण तच्छृणु । एकादश्यां न भोक्तव्यं कर्त्तव्यो जागरः सदा ॥४८५

महोत्सवः प्रकर्त्तव्यः प्रत्यहं पूजनन्तव । पलार्द्धेनापि विद्धन्तु भोक्तव्यं वासरन्तव ॥४८६॥

त्वत्प्रीत्याष्टौ मया कार्य्या द्वादश्यो व्रतसंयुताः । भक्तिर्भागवती कार्य्या प्राणैरपि धनैरपि ॥४८७

नित्यं नामसहस्रन्तु पठनीयन्तव प्रियम् । पूजा तु तुलसीपत्रैर्मया कार्य्या सदैव हि ॥४८८॥

तुलसीकाष्ठसम्भूता माला कार्य्या सदा मया । नृत्यगीतं प्रकर्त्तव्यं संप्राप्ते जागरे तव ॥४८९॥

तुलसीकाष्ठसम्भूतचन्दनेन विलेपनम् । करिष्यामि तवाग्रे च गुणानां तव कीर्त्तनम् ॥४९०॥

मथुरायां प्रकर्त्तव्यं प्रत्यब्दं गमनं मया । तत्कथाश्रवणं कार्य्यं तथा पुस्तकवाचनम् ॥४९१॥

नित्यं पादोदकं मूर्ध्ना मया धार्य्यं प्रयत्नतः । नैवेद्य-भक्षणञ्चापि करिष्यामि यतव्रतः ॥४९२॥

निर्म्माल्यं शिरसा धार्य्यं त्वदीयं सादरं मया । तव दत्त्वा यदिष्टन्तु भक्षणीयं मुदा मया । ४९३

तथा तथा प्रकर्त्तव्यं तव तुष्टिः प्रजायते । सत्यमेतन्मया कृष्ण तवाग्रे परिकीर्त्तितम् ॥४९४॥

ननु श्रीभगवद्धर्म्माः सर्व्वशास्त्रेषु व्यक्तमेव वर्त्तन्ते, किं तल्लिखनश्रमेण ? सत्यं, तथापि नानास्थान-स्थितानि समाहृत्य सविशेषमेकत्र संगृह्यन्त इति लिखति—ते त्विति । एवं भक्तलक्षणेषु पूर्व्वं लिखितानामपि केषाञ्चित् पुनरत्र संगृहीतवचनान्तर्वर्त्तित्वेन लिखनादपि न दोषः, एकत्रैव सुखलाभात् । ससाधना भगवद्-धर्म्मस्य साधनैः सहिताः, तानि चाग्रे तत्र तत्रैवाभिव्यञ्जयितव्यानि ॥४८३-४८४॥

वासरम् एकादशी-जन्माष्टम्यादि; भक्तिः परिचर्य्यालक्षणा; पुस्तकं श्रीभागवतादि ॥४८६-४९१॥

इष्टं प्रियं यद्वस्तु, तत् तुभ्यं दत्त्वा समर्प्यैव मया भक्षणीयम् ॥४९३॥

तत्तच्च सर्व्वं तव प्रीत्यर्थमेव यथाविधि कार्य्यं, न त्वन्यार्थमित्याह—तथेति । यद्वा, अनुक्तमन्यदपि संगृह्णाति तथा तथेति, तत्तत्प्रकारोऽन्यश्चेत्यर्थः ॥४९४॥

श्रीमद्भागवतादि शास्त्र में स्पष्ट रूप में वर्णित है, तथापि सुलभार्थ यत्नपूर्वक उक्त वचनसमूह संगृहीत हो रहे हैं ।।४८३-४८४।।

अथ भगवद्धर्म्माः

काशीखण्ड के द्वारका-माहात्म्य में चन्द्रशर्मा कथित भागवत धर्म इस प्रकार है—हे कृष्ण ! अद्यावधि मैं जो कुछ करूँगा, उसको कह रहा हूँ, आप श्रवण करें । एकादशी में भोजन नहीं करूँगा, सर्वदा रात्रि जागरण भी करूँगा । प्रत्यह महोत्सव एवं आपकी पूजा करूँगा । एकादशी एवं जन्माष्टमी प्रभृति आपका दिन यदि अर्द्धपल भी विद्धा होता है तो उसदिन भोजनकर आपकी प्रसन्नताहेतु व्रतलक्षणयुक्त अष्टमहाद्वादशी पालन करूँगा, प्राण एवं धन के द्वारा भी भगवद्भक्ति का अनुशीलन करूँगा, नित्य त्वत्प्रिय सहस्रनाम का पाठ करूँगा, मैं सर्वदा तुलसी-पत्र द्वारा आपकी पूजा करूँगा । सर्वदा तुलसीकाष्ठ-निर्मित माला धारण करूँगा । जागरण उपस्थित होने से उसमें नृत्य-गीत करूँगा । तुलसीकाष्ठोद्भूत चन्दन द्वारा अङ्गविलेपन एवं आपके समीप में आपका गुण कीर्त्तन करूँगा, प्रतिवर्ष मथुरा दर्शन करूँगा एवं आपका चरित्र श्रवण करूँगा एवं श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ पाठ करूँगा ।।४८५-४९१।।

मैं नित्य यत्नपूर्वक चरणामृत धारण मस्तक में करूँगा, एवं नियमानुसार नैवेद्य भक्षण भी करूँगा । मैं यत्नपूर्वक निर्माल्य धारण करूँगा एवं प्रिय वस्तु निवेदन कर आनन्द पूर्वक भोजन करूँगा ।।४९२-४९३

हे कृष्ण ! मैं शपथ पूर्वक कह रहा हूँ, जिसमें आपकी प्रसन्नता होगी, यथारीति मैं उस प्रकार

सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादेन (३०।३२)—

गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्व्वलाभार्पणेन च ।
श्रद्धया तत्कथायाञ्च साधुसङ्गेन चैव हि ।
तत्पादवन्दनाद्यैश्च तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः ॥४९५॥

हरिः सर्व्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः । इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत् ॥४९६॥

एकादशे च श्रीकवियोगेश्वरेण (२।३४)—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया आत्मलब्धये ।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥४९७॥

तत्रैव प्रबुद्धयोगेश्वरेण (श्रीभा ११।३।२३-३०)—

सर्व्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गञ्च साधुषु । दयां मैत्रीं प्रश्रयञ्च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥४९८॥

गुरोः शुश्रूषया तस्यैव भक्त्या प्रेम्णा, तस्मिन्नेव सर्व्वेषां लाभानां लब्धानामर्पणेन च, साधवः सदाचारा ये भक्ता वैष्णवास्तेषां सङ्गेन, तल्लिङ्गानां श्रीमूर्त्तीनामीक्षणमर्हणञ्चादिर्येषां वन्दनादीनां तैश्च ॥४९५॥

कामैश्च तत्तदिष्टदानैः, एवं निर्जितषड़्वर्गैः क्रियते भक्तिरित्यनेन सर्व्वेषामेवान्वयः । अत्र च ईश्वराराधनादीनि भक्त्यङ्गानि, तत्साधनानि च गुरु-शुश्रूषादीनि ज्ञेयानि ॥४९६॥

सामान्येन भागवतलक्षणमाह—ये वै इति । मन्वादिमुखेन वर्णाश्रमादिधर्म्मानुक्त्वाऽतिरहस्यत्वात् स्वमुखेनैव भगवता अविदुषामपि पुंसामञ्जः सुखेनैवात्मलब्धये जीवस्य स्वरूपस्फूर्त्यै, भगवतः प्राप्तये वा ये वै उपायाः 'यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि' (श्रीगी ९।२७) इत्यादिना सर्व्वकर्म्मार्पणरूपाः प्रोक्तास्तान् विद्धि; एते च प्रायः साधनान्येव; यद्वा, अन्तरङ्गत्वाभावेन मुख्याः; यद्वा, दास्यान्तरगता वाह्याः; यद्वा, 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु' (श्रीगी १८।६५) इत्यादिना स्मरणादयः ये अर्ज्जुनं प्रति, तथा 'श्रद्धामृतकथायां मे' (श्रीभा ११।१९।२०) इत्यादिना ये चोद्धवं प्रति स्वयं श्रीभगवता प्रोक्तास्तान्; ततश्च सर्व्वे प्रायो मुख्या एवेति ॥४९७॥

'तत्र भागवतान् धर्म्मान् शिक्षेत्' (श्रीभा ११।३।२२) इत्युक्तान् दर्शयति—सर्व्वत इत्यष्टभिः । यथोचितमिति हीनेषु दयां, समेषु मैत्रीम्, उत्तमेषु च प्रश्रयं शिक्षेदिति सर्व्वत्र पूर्व्व-श्लोकस्थेनान्वयः । शौचं बाह्यं मृज्जलादिभिः, आभ्यन्तरञ्चादम्भमानादि, तपः स्वधर्म्माचरणं, तितिक्षां क्षमां, मौनं वृथावाचामनुच्चारणं,

---

आचरण ही करूँगा ॥४९४॥

सप्तमस्कन्ध में श्रीप्रह्लाद की उक्ति यह है—हे बालकगण ! गुरु शुश्रूषा, गुरु भक्ति, गुरुदेव को सर्व लब्ध वस्तु समर्पण, उसकी कथा में साधुसङ्ग में श्रद्धा, उनकी चरण वन्दना, उनकी मूर्त्ति दर्शन एवं पूजादि तथा भगवान् श्रीहरि की सर्वभूत में विद्यमानता विचारणा, एवं प्राणीमात्र को अभीष्ट प्रदान पूर्वक सम्यक् सम्मान करना चाहिये ॥४९५-४९६॥

एकादशस्कन्ध में श्रीकवियोगेश्वर ने कहा है—हे राजन् ! मूढ़मति मनुष्यगण सहज में आत्मज्ञान लाभ करें, तज्जन्य भगवान् ने जिन सब उपायों का उपदेश प्रदान किया है अर्थात् 'यत् करोषि यदश्नासि' रूप में जो आदेश किया है, उसी को भागवत धर्म जानना चाहिये ॥४९७॥

एकादश स्कन्ध में प्रबुद्ध योगेश्वर की उक्ति है—प्रबुद्ध कहे थे, हे राजन् ! प्रथमतः समस्त विषयों से मानसिक आसक्ति को परित्याग कर सज्जनों का सङ्ग करे, पश्चात् हीनजन के प्रति कृपा, समान लोकों के सहित मित्रता एवं निज अपेक्षा श्रेष्ठ लोकों के प्रति यथोचित सम्मान प्रदान करे ॥४९८॥

शौचं तपस्तितिक्षाञ्च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्य्यमहिंसाञ्च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥४९९॥

सर्व्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् । विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित् ॥५००॥

श्रद्धां भागवते शास्त्रे अनिन्दामन्यत्र चापि हि ।
मनोवाक्कायदण्डञ्च सत्यं शमदमावपि ॥५०१॥

श्रवणं कीर्त्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्म्मणः । जन्मकर्म्मगुणानाञ्च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥५०२॥

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम् ॥५०३॥

स्वाध्यायं यथाधिकारं वेदपाठादि, आर्जवं स्वच्छतां, ब्रह्मचर्य्यं यस्य यादृगुचितम्, ऋतुषु स्वदारनियमादि, अहिंसा भूतेष्वद्रोहः, द्वन्द्वसञ्ज्ञयोः शीतोष्णसुख-दुःखादिरूपयोः समं हर्षविषादराहित्यम्, आत्मेश्वरान्वीक्षां सच्चिद्रूपेणात्मेक्षां नियन्तृरूपेणेश्वरेक्षाञ्च, कैवल्यमेकान्त-शीलत्वम् । अनिकेततां गृहाद्यभिमान-राहित्यं, विविक्तचीर-वसनं विजनपतितानां वस्त्रखण्डानां शुद्धानां वा वल्कलादीनां परिधानं, भागवते भगवत्-प्रतिपादके श्रीभागवते वा, अन्यत्र शास्त्रादौ अनिन्दां, मनसः प्राणायामैः, वाचो मौनेन, कायस्यानीहया दण्डम् । सत्यं यथार्थभाषणं, शमदमौ अन्तःकरणवाह्येन्द्रियनिग्रहौ—इमानि च प्रायः साधनान्युक्तानि । भक्तेर्मुख्याङ्गान्याह—श्रवणमिति चतुर्भिः । हरेर्जन्मकर्म्मगुणानां श्रवणादि, अद्भुतकर्म्मण इति जन्मादीनि सर्व्वाण्येवाद्भुतानीति सर्व्वेषामपि जन्मादीनामद्भुतत्वमित्यर्थः । यद्वा, अद्भुतानि जगदाश्चर्य्यकराणि कर्म्माणि पूतनाबधादीनि यस्य तस्य हरेः श्रीकृष्णस्य, तदर्थे हर्य्युद्देशेन श्रीकृष्णप्रेमार्थं वा सर्व्वं कर्म्म विशेषतो यजनादि तदर्थे शिक्षेत् । इष्टं दत्तमित्यादयो भावे निष्ठाः । वृत्तं सदाचारः, आत्मनः प्रियं गन्धपुष्पादि, दारादीनप्यालक्ष्य परस्मै परमेश्वराय निवेदनं, तत्सेवकतया समर्पणं यत्तन् शिक्षेत् ॥४९८-५०३॥

पश्चात् बाह्य आभ्यन्तर शौच, अर्थात् मृत्तिका एवं जल द्वारा वाह्यिक शौच एवं दम्भ मानादि वर्जन द्वारा आन्तरिक शौच, तदनन्तर तपः अर्थात् स्वधर्माचरण, क्षमा, मौन अथात् वृथा वाक्योच्चारण, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य्य, अहिंसा, प्राणिमात्र का अनिष्टाचरण न करना एवं शीतोष्ण दुःखादि सहन शिक्षा भी करे ॥४९९॥

अनन्तर सर्व्वत्र सच्चित् स्वरूप में आत्मा का ईक्षण, नियन्तृ रूप में ईश्वर का ईक्षण, निर्जन में वास, गृहादि के प्रति अभिमान शून्यता, विजन पतित वस्त्र खण्ड अथवा बल्कल परिधान, एवं यथा लाभ सन्तोष की शिक्षा करे ॥५००॥

भगवत् प्रतिपादक शास्त्र में श्रद्धा, अन्य शास्त्र की निन्दा न करना, मनः, वाक्य एवं शरीर का दण्ड-विधान, यथार्थ भाषण एवं शमदमादि अर्थात् अन्तरेन्द्रिय तथा वहिरिन्द्रिय निग्रह करने की शिक्षा करनी चाहिये ॥५०१॥

अद्भुत कर्मा श्रीहरि के जन्म, कर्म, गुणसमूह का श्रवण, कीर्त्तन, ध्यान करे एवं उन्हीं के उद्देश से सम्पूर्ण कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये ॥५०२॥

इष्ट, दान, तपस्या, जप, सदाचार, स्वप्रिय वस्तु, कलत्र, पुत्र, गृह एवं प्राण— परमेश्वर को निवेदन करे । अर्थात्— इष्ट शब्द का अर्थ श्रीहरिसम्प्रदानक याग, दत्त, विष्णु एवं वैष्णवसम्प्रदानक दान, तपस्या—एकादश्यादि व्रत, जप-श्रीहरिमन्त्र जप, एवं निज प्रिय वस्तुसमूह परमेश्वर को निवेदन करे, एवं कलत्र पुत्रादि को भगवत् सेवा-कार्य्य में नियोजन करे ॥५०३॥

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् । परिचर्य्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥५०४॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः । मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥५०५॥

श्रीभगवता च (श्रीभा ११।११।३४-४१)—

मल्लिङ्ग-मद्भक्तजन-दर्शनस्पर्शनार्च्चनम् । परिचर्य्या स्तुतिः प्रह्वो गुणकर्म्मानुकीर्त्तनम् ॥५०६
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव । सर्व्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥५०७॥
मज्जन्मकर्म्मकथनं मम पर्व्वानुमोदनम् । गीतताण्डव-वादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥५०८॥
यात्रा बलिविधानञ्च सर्व्ववार्षिकपर्व्वसु । वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥५०९
ममार्च्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः । उद्यानोपवनाक्रीड़-पुरमन्दिरकर्म्मणि ॥५१०॥
संमार्ज्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्त्तनैः । गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवत् यदमायया ॥५११॥

कृष्ण एवात्मा नाथश्च येषां, श्रीकृष्ण आत्मनः स्वस्य नाथो येषामिति वा; यद्वा, कृष्णो जीवनस्वामी येषां तेषु । उभयत्र स्थावरे जङ्गमे च या परिचर्य्या तां, विशेषतो नृषु, तत्रापि साधुषु स्वधर्मशीलेषु, ततोऽपि महत्सु श्रीभागवतवरेषु । यद्वा, विशेषनः साधुषु दयालुषु महत्सु नृष्विति ॥५०४॥

तैश्च मह मङ्गम्य यत् पावनं भगवद्यशः, तस्य परस्परानुकथनं शिक्षेत्; यद्वा, यश प्रति, तत्र संस्पर्द्धादि-परित्यागेन मिथो या रतिः रमणं, या च तुष्टिः सुखं, या च निवृत्तिः समस्तदुःखनिवृत्तिस्तां शिक्षेत् ॥५०५॥

कृपालुरित्यादिभिः पञ्चभि श्लोकैः साधुलक्षणमुक्त्वा इदानीं भक्तेर्लक्षणमाह- मल्लिङ्ग इत्यष्टभिः । लिङ्गानि प्रतिमादीनि, मल्लिङ्ग-मद्भक्तजनानामेव परिचर्य्यादि, तत्र प्रह्वो नमस्कारः, पर्व्वाणि जन्माष्टम्यादीनि, तदनुमोदनं, बलिविधानं पुष्पोपहारादि-समर्पणं, सर्व्ववार्षिकपर्व्वस्विति चातुर्म्मास्यैकादश्यादिषु विशेषत इत्यर्थः । उद्यानादिकरणे सामर्थ्ये सति स्वतः, असति चान्यैः सम्भूय चोद्यमः । उद्यानं पुष्पप्रधानं वनम्, उपवनं फलप्रधानम्, आक्रीड़ं क्रीड़ास्थानं, संमार्ज्जनं रजसोऽपाकरणम्, उपलेपः गोमयोदकादिभि-रालेपनं, सेकः तैरेव प्रोक्षणं, मण्डलवर्त्तनं सर्व्वतोभद्रादिकरणम्; मह्यं मम ॥५०६-५११॥

इस प्रकार कृष्णभक्त मनुष्य के सहित सौहार्द्द स्थापन करे। स्थावर जङ्गम की परिचर्य्या करे, विशेष कर मनुष्यों के प्रति। तन्मध्य में धार्मिकों के प्रति। तन्मध्य में श्रीभगवद्भक्त साधुजनों के प्रति परिचर्य्या का अभ्यास करना चाहिये ॥५०४॥

अनन्तर भगवद्भक्त सङ्ग लाभ होने पर पवित्र भगवद् यशः का कथनोपकथन, गर्व परित्याग पूर्वक परस्पर प्रणय, सन्तोष एवं दुःखनिवृत्ति की शिक्षा का अभ्यास करना चाहिये ॥५०५॥

एकादश स्कन्ध में श्रीभगवदुक्ति यह है—हे उद्धव ! मेरी प्रतिमा-प्रतिमूर्त्ति, अथवा मेरे भक्त का दर्शन स्पर्शन, पूजा, सेवा, परिचर्य्या, स्तुति, प्रणाम एवं गुणानुवाद करे। मेरी कथा सुनने में श्रद्धा, मदनुध्यान, मेरा सदा ध्यान करना, मुझको प्राप्त द्रव्य प्रदान, दास्य भाव से आत्मार्पण, मेरे जन्म-कर्म कीर्त्तन, जन्माष्टम्यादि मेरे उचित पर्वों का अनुमोदन, मेरे मन्दिर में नृत्य-गीत-वाद्य एवं सपरिवार मन्दिर में महोत्सव यह सब कार्य्य करे। सांवात्सरिक अर्थात् वर्ष दिन के सम्पूर्ण पर्वदिनों में मेरी यात्रा, बलिविधान पुष्पादि उपहार प्रदान, वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा, मेरा व्रत धारण, मेरी प्रतिमा के प्रतिष्ठा करने में श्रद्धा, स्वयं अथवा अन्यान्य पुरुषों के सहित एकत्र होकर उद्यान, उपवन, क्रीड़ागृह, पुर, मन्दिर प्रभृति, मदीय प्रीतिकर कार्य्य में स्वयं अथवा बहुजन सम्मिलित होकर उद्योग, संमार्जन, गो-मयादि द्वारा उपलेपन, जल सेचन, सर्वतोभद्रमण्डलादि अर्पण, भृत्यवत् अकपट भाव से मद्गृह में शुश्रूषा, अमानित्व, अदाम्भित्व, कृत कार्य्य का अपरिकथन, मुझको अर्पित प्रदीपालोक में अन्य कार्य्य न करना, एवं जो जो वस्तु सर्वलोक-

अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्त्तनम् । अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥५१२
यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः । तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥५१३॥

किञ्च (श्रीभा ११।१९।२०-२३)—

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्त्तनम् । परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥५१४॥
आदरः परिचर्य्यायां सर्व्वाङ्गैरभिवन्दनम् । मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्व्वभूतेषु मन्मतिः ॥५१५॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् । मय्यर्पणञ्च मनसः सर्व्वकामविवर्ज्जनम् ॥५१६॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च । इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतन्तपः ॥५१७॥

कृतस्य धर्म्मस्य अपरिकीर्त्तनं, स्वयमन्येन वा निवेदितं न स्वीकुर्य्यात् । एतच्च साधारणस्थावरविषयं रागप्राप्तविषयं वा भक्त्या तु ग्राह्यमेव, षड्भिर्मासोपवासैश्च यत् फलं परिकीर्त्तितम् । विष्णोर्नैवेद्यसिक्थेन पुण्यं तद्भुञ्जतां कलौ ॥ हृदि रूपं मुखे नाम नैवेद्यमुदरे हरेः। पादोदकञ्च निर्म्माल्यं मस्तके यस्य सोऽच्युतः ॥' इत्यादिवचनेभ्यः । यद्वा, अन्यस्मै निवेदितं मे नोपयुञ्ज्यात्, मह्यं न निवेदयेदित्यर्थः, 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् । पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते ॥ पितृशेषन्तु यो दद्यात् हरये परमात्मने । रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिनः ॥' इत्यादिवचनेभ्यः । यद्वा, पूर्व्वं मे निवेदितं सन्तं पुनर्मे न निवेदयेदित्यर्थः । एतच्च स्थावरातिरिक्त-निर्म्माल्यविषयकं ज्ञेयं, भूषणादीनां पुनरर्पणे दोषाभावात्, स च पूर्व्वमेव तत्तत्प्रकरणे लिखितोऽस्ति । आनन्त्याय श्रीविष्णुलोकाय, मल्लिङ्गेत्यादिषु चात्र भक्तेरङ्गान्येव प्रायेणोक्तानि, तत्र कानिचिन्मुख्यानि कानिचिदमुख्यानि च, अमानित्वमित्यादौ च साधनान्येवेति विवेचनीयम् ॥५१२-५१३॥

पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणमिति प्रतिज्ञातमेवाह— श्रद्धेति चतुर्भिः; श्रद्धा श्रवणादरः शश्वदिति सर्व्वत्रानुषज्यते । मदनुकीर्त्तनं श्रवणानन्तरं मत्कथाव्याख्यानमित्यर्थः । अङ्गचेष्टा लौकिकी क्रिया, वचसा लौकिकेनापि मद्गुणानामीरणं कथनं, मदर्थे मद्भजनार्थं तद्विरोधिनोऽर्थस्य परित्यागः, भोगस्य तत्साधनस्य चन्दनादेः, सुखस्य च पुत्रोपलालनादेः; यद्वा, अर्थो धनं, भोगो विषयोपभोगः, सुखं मोक्षानन्दः, तेषां परित्यागः; इष्टादि वैदिकं यत् कर्म्म, तदपि मदर्थं चेद्भक्तेः कारणमित्यर्थः । अत्रादौ प्रायो भक्तेर्मुख्यान्यङ्गान्युक्तानि । सर्व्वकामविवर्ज्जनादीनि च प्रायः साधनान्येव ॥५१४-५१७॥

अभिलषित एवं अपने को अत्यन्त प्रिय हैं, वह सब मुझको निवेदन करने से अक्षय फल मिल सकता है ॥ ॥५०६-५१३॥

एकादश स्कन्ध के अग्रभाग में वर्णित है— मदीय अमृतमयी कथा में सर्वदा श्रद्धा, नित्य मेरे नामों का कीर्त्तन, मेरी पूजा में विशेष निष्ठा, स्तुतिसमूह के द्वारा मेरा स्तव, मेरी परिचर्य्या में आदर, साष्टाङ्ग के द्वारा अभिवन्दन, मेरी पूजा से भी मेरे भक्त की अधिक पूजा, सर्वभूत में मद्बुद्धि अर्थात् सर्वभूत में मुझको देखना, यह ही सर्वापेक्षा मेरी उत्तम पूजा है ॥५१४-५१५॥

मेरे उद्देश्य में लौकिक कार्य्य का अनुष्ठान, अङ्गचेष्टा, लौकिक वाक्य द्वारा मेरे गुण वर्णन, मुझको मन अर्पण, सर्व कर्म त्याग, मेरे निमित्त अर्थ, भोग एवं सुख परित्याग, मेरे निमित्त ही इष्टापूर्त्त, दान, होम, जप व्रत, तपस्या, इन सबका अनुष्ठान करना उचित है । कारण, यह सब भक्ति के कारण हैं ॥५१६-५१७॥

अपि चाग्रे (श्रीभा ११।२९।९-१२)—

कुर्य्यात् सर्व्वाणि कर्म्माणि मदर्थे शनकैः स्मरन् ।

मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्म्मात्ममनोरतिः ।।५१८।।

देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् । देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ।।५१९

पृथक् सत्रेण वा मह्यं पर्व्वयात्रामहोत्सवान् । कारयेन्नृत्यगीताद्यैर्महाराजविभूतिभिः ।।५२०।।

मामेव सर्व्वभूतेषु वहिरन्तरपावृतम् । ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ।।५२१।।

अथ श्रीभगवद्धर्म्म-माहात्म्यम्

उक्तश्च सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादेन (७।३३)—

एवं निर्ज्जितषड़्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे । वासुदेवे भगवति यया संलभ्यते रतिः ।।५२२।।

एकादशे श्रीनारदेन (२।१२)—

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वाऽनुमोदितः ।

सद्यः पुनाति सद्धर्म्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि ।।५२३।।

'हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्म्मान् सुमङ्गलान्' इति प्रतिज्ञाय तानेवाह—कुर्य्यादिति चतुर्भिः । मां स्मरन् शनकैः असम्भ्रमतः कुर्य्यात्, तदाह—मयीति, अर्पिते मनश्चित्ते सङ्कल्पविकल्पानुसन्धानात्मिके येन, अतएव मद्धर्म्मेष्वेवात्ममनसो रतिर्यस्य सः, पुण्यदेशलक्षणं मद्भक्तैरिति । देवादिषु ये ये मद्भक्तास्तेषामाचरितानि कर्म्माणि चाश्रयेत् । सत्रेण सम्भूय वा । सर्व्वभूतेषु आत्मनि चात्मानमीश्वरं स्थितं मामवेक्षेत । ननु कथमेकस्य सर्व्वेष्वनुवृत्तिः ? तत्राह—वहिरन्तरश्च अपावृतं पूर्णमित्यर्थः । एषु च क्रमेण साधनानि भक्त्यङ्गानि च मुख्यान्यपि पूर्व्वलिखितानुसारेण विवेचनीयानीति दिक् ।।५१८-५२१।।

एवमुक्त-गुरुशुश्रूषादिप्रकारेण निर्ज्जितः षण्णां काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य्याणामिन्द्रियाणां वा वर्गो यैस्तैः, भक्तिः ईश्वराराधनरूपैव; यया भक्त्या, रतिः प्रेमा ।।५२२।।

आदृतः आस्तिक्ये गृहीतः, अनुमोदितः परैः क्रियमाणः संस्तुतः, सद्धर्म्मः, देव हे वासुदेव; यद्वा, देवेभ्यो विश्वस्मै च द्रुह्यन्ति ये तानपि ।।५२३।।

उक्त एकादश स्कन्ध के अग्रभाग में और भी वर्णित है—मेरा स्मरणकर मुझमें मन अर्पण पूर्वक, धर्म-बुद्धि सम्पन्न होकर मन्निमित्त धीरे धीरे समस्त कर्मों का अनुष्ठान करे । मद्भक्त साधुकर्त्तृक आश्रित पुण्य देश में निवास करे, एवं देवासुर मनुष्यों में मेरे भक्त जिस प्रकार आचरण करे, उसी के अनुसार अनुष्ठान करना चाहिये ।।५१८-५१९।।

परस्पर एकत्र होकर अथवा एकक-नृत्य गीतादि द्वारा एवं महाराजोचित विभूति द्वारा मन्निमित्त यात्रा महोत्सवादि का अनुष्ठान करे । विमलमति साधुभूतों के भीतर बाहर एवं आत्मा में अमाच्छादित रूप में मुझको निरीक्षण करे ।।५२०-५२१।।

अथ भगवद्धर्म्म-माहात्म्यम्

सप्तम स्कन्ध में श्रीप्रह्लाद ने कहा है—हे बालकवृन्द ! इन सब कार्य्यों के द्वारा षड़्वर्ग अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं मत्सरता को जीतकर भगवान् श्रीहरि में प्रीति करना चाहिये, ऐसा होने पर भगवद् विषयक प्रीति प्राप्त हो सकती है ।।५२२।।

एकादश स्कन्ध में श्रीनारद ने कहा—हे वासुदेव ! भगवद्धर्म की महिमा परमाद्भुत है—उसको श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, आदर से ग्रहण, स्तवन अथवा अनुमोदन करने पर जगद्रोही पुरुष भी सद्यः पवित्रता लाभ करता है ।।५२३।।

तत्रैव श्रीकवियोगेश्वरेण (श्रीभा ११।२।३५)—

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् । धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ।।५२४

श्रीप्रबुद्धयोगेश्वरेण (श्रीभा ११।३।३३)—

इति भागवतान् धर्म्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ।।५२५।।

श्रीभगवता च (श्रीभा ११।१९।२४)—

एवं धर्म्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ।।५२६

किञ्चाग्रे (श्रीभा ११।२९।२०)—

न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्म्मस्योद्धवाण्वपि ।
मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः ।।५२७।। इति ।

यान् भगवद्धर्म्मान् आस्थाय आश्रित्य योगादिष्विव न प्रमाद्येत, विघ्नैर्न विहन्येत । किञ्च, निमील्य नेत्रे धावन्नपि इह एषु भागवतधर्म्मेषु न स्खलेत् । निमीलनं नामाज्ञानं, यथाह—'श्रुति-स्मृती उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्त्तिते। एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्त्तितः ।।' इति । अज्ञात्वापीत्यर्थः; यथा पदन्यास-स्थानमतिक्रम्य शीघ्रं परतः पदन्यासेन गतिर्धावनं, तद्वदत्रापि किञ्चित् किञ्चिदतिक्रम्यातिशीघ्रमनुष्ठानं धावनं, तथानुतिष्ठन्नपि न स्खलेत्, न प्रत्यवायी स्यात्, तथा न पतेत्, फलान्न भ्रश्येत् ।।५२४।।

तदुत्थया भागवतधर्म्मोत्पन्नया भक्त्या भक्तिनिष्ठया नारायणपरः सन्नतिदुस्तरामपि मायामञ्जः सुखेन तरति ।।५२५।।

एवमीदृशैरेतैर्वा आत्मनिवेदिनां सतां भक्तिः प्रेमलक्षणा सम्यग्जायते । अस्य भक्तस्य अन्यः कोऽर्थः साधनरूपः साध्यरूपो वावशिष्यते ? सर्व्वोऽपि स्वत एव भवतीत्यर्थः । यद्वा, अस्य मम, ततश्च सतां मद्भक्तिसम्यगाविर्भावे सति ममैव कृतार्थता स्यादित्यर्थः ।।५२६।।

अङ्ग हे उद्धव ! अनाशिषो निष्कामस्य; यद्वा न विद्यते आशीर्यस्मात् सतां परमाशीर्व्वादरूपस्येत्यर्थः । उपक्रमे आरम्भे सति अण्वपि ईषदपि वैगुण्यादिभिर्नाशो नास्त्येव, यतो ममैव निर्गुणत्वादयं धर्म्मः सम्यग्-व्यवसितो निश्चितः, न तु मन्वादिमुखेन कथञ्चित्; यद्वा, निराशिषो मोक्षस्य निर्गुणत्वात् फलविशेषाभावात् सम्यक् तस्मादपि समीचीन इत्ययं व्यवसित इति ।।५२७।।

एकादश स्कन्ध में कवि योगेश्वर की उक्ति है—हे राजन् ! भागवत धर्म का आश्रय ग्रहण पूर्वक नेत्र मूँदकर दौड़ने पर भी कभी किसी प्रकार के विघ्न से उस पुरुष को स्खलित अथवा पतित होना नहीं पड़ता है ।।५२४।।

एकादश स्कन्ध में श्रीप्रबुद्ध योगेश्वर का कथन है—हे राजन् ! इस प्रकार के भागवत धर्म को सीखने पर उससे प्रेमभक्ति उत्पन्न होती है, एवं उससे श्रीनारायण-परायण होकर दुस्तर माया को भी अतिक्रम किया जा सकता है ।।५२५।।

श्रीभगवद्वाक्य इस प्रकार है—हे उद्धव ! इस प्रकार धर्म का आचरण करने से मेरे प्रति आत्मार्पण परायण की भक्ति बढ़ती है, उसके पुनः अर्थान्तर अवशेष नहीं रहता है, अर्थात् वह सब विषयों में ही पूर्ण कृतार्थता लाभ करता है ।।५२६।।

इस स्थान के आगे और भी लिखा है—भगवान् बोले, हे उद्धव ! मेरे इस धर्म के प्रारम्भ में वैगुण्य उत्पत्ति होने पर भी कामना विहीन मनुष्य के सम्बन्ध में धर्म के किञ्चिन्मात्र ह्रास होने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि मदीय नैर्गुण्य के कारण मेरे द्वारा ही यह धर्म सम्पूर्ण रूप में व्यवसित है, अर्थात् लिखित है ।।५२७।।

अलाभे सत्सभायास्तु शुश्रूषुञ्च निजालये ।
देवालये वा शास्त्रज्ञः कीर्त्तयेद्भगवत्कथाम् ।।५२८।।

अथ श्रीभगवल्लीलाकथाकीर्त्तन-माहात्म्यम्

उक्तञ्च स्कान्दे श्रीभगवता अर्ज्जुनं प्रति—

मत्कथाः कुरुते यस्तु वैष्णवानां सदाग्रतः । इह भोगानवाप्नोति तथा मोक्षं न संशयः ।।५२९।।

प्रथमस्कन्धे श्रीनारदेन (५।२२)—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा, स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो, यदुत्तमःश्लोकगुणानुवर्णनम् ।।५३०।।

किञ्च (श्रीभा १।६।३५)—

एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः । भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्य्यानुवर्णनम् ।।५३१।।

एकादशे श्रीशुकेनापि (३१।२८)—

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार,-वीर्य्याणि बाल्यचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो, भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ।।५३२।।

एवं सतां सभायां गत्वा भगवल्लीलाकथां शृणुयात्, भगवद्धर्म्मांश्च पृच्छेदिति लिखितम् । यत्र च तादृशी सभा नास्ति, तत्र किं कार्य्यमित्यपेक्षायां लिखति—अलाभे इति । शास्त्रज्ञश्चेत्तर्हि श्रोतुमिच्छुषु जनेषु भगवत्कथां स्वयमेव कथयेत् । क्व ? निजालये देवालये वा ।।५२८।।

भगवल्लीलाकथा-कीर्त्तनेनैव तपआदि सर्व्वं सफलं स्यात् । यद्वा, भगवल्लीलाकथाकीर्त्तनमेव तपआदीनां फलमित्याह—इदं हीति । श्रुतादयो भावे निष्ठा । इदमेव तपःश्रवणादेः अविच्युतो नित्योऽर्थः फलम् । किं तत् ? उत्तमश्लोकस्य गुणानुवर्णनं लीलाकथाकीर्त्तनमिति यत् ।।५३०।।

मुहुर्मात्राणां विषयाणामुपभोगस्येच्छया आतुराणि विकलानि चित्तानि येषां तेषामपि हरेः चर्य्याया लीलाया अनुवर्णनं यत् ; यद्वा, मुहुरातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छयापि यत् हरिचर्य्यानुवर्णनं, एतदेव हि निश्चितं भवसिन्धोः प्लवः पोतः सुखोत्तार-साधनम् । न केवलं श्रुतिप्रामाण्येन, किन्तु अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां दृष्ट एवेत्यर्थः ।।५३१।।

रुचिराणामवताराणां मत्स्यादीनां वीर्य्याणि परमाद्भुत-चरितानि बाल्यचरितानि च पूतनाबधादीनि लोकत्रयेऽपि शन्तमानि मङ्गलानि परमसुखरूपाणि वा, परामुत्कृष्टां प्रेमलक्षणामित्यर्थः, परमहंसानां गतौ श्रीकृष्णे ।।५३२।।

सत्सभा उपलब्ध न होने पर, शास्त्रज्ञ व्यक्ति, निज गृह में अथवा देवालय में जाकर स्वयं शुश्रूषु जनगण के निकट श्रीहरि-कथा कीर्त्तन करे ।।५२८।।

अथ श्रीभगवल्लीलाकथाकीर्त्तन-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण में भगवान् अर्जुन के प्रति कहे हैं—जो मनुष्य, सर्वदा वैष्णवगण के समीप में मेरी कथा का कीर्त्तन करते हैं, वे इस जगत् में भोग लाभ करेंगे एवं परलोक में मोक्ष लाभ करेंगे, इसमें सन्देह नहीं है ।।५२९।।

और भी लिखित है—पुनः पुनः विषयभोगेच्छा से आतुरचित्त मानवों के पक्ष में इस श्रीहरिलीला-कीर्त्तन ही भवसागर पार जाने की नौका स्वरूप है । मैंने सम्यक् रूप से समझा है ।।५३१।।

एकादश स्कन्ध में श्रीशुकदेव का कथन है—हे राजन् ! भगवान् श्रीहरि की परमाद्भुत मनोज्ञ लीला-

अतएव श्रीप्रह्लादेन नृसिंहस्तुतावुक्तम् (श्रीभा ७।९।१८)—

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया, लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चिगीताः।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो, दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः ॥५३३॥

गोपिकाभिरपि गीतम् (श्रीभा १०।३१।९)—

तव कथामृतं तप्तजीवनं, कविभिरीड़ितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं, भुवि गृणन्ति ये भूरिदा जनाः ॥६३४॥

सोऽहं त्वद्दासः, भो नृसिंह ! तव लीलाकथा अनुगृणन् दुर्गाणि महादुःखानि अञ्जसा अनायासेन तितर्म्मि तरामि, न गणयिष्यामीत्यर्थः। तत्र हेतुः—गुणैः रागादिभिर्विशेषेण प्रमुक्तः सन्। तत् कुतः ? ते पदयुगमेवालयो येषां भक्तानां त एव हंसा ज्ञानिनः सारासारविवेकिनो वा, तैः सङ्गो यस्य मम सोऽहम्। कथम्भूतस्य कथाः ? प्रियस्येत्यादि-विशेषणत्रयेणानेन कथाया अपि प्रियत्वादिविवक्षया परमसुखमयत्वादिकं, तेन च सदानुकीर्त्तन-मभिप्रेतम्। कुतो ज्ञाताः ? विरिञ्चिना गीताः तत्सम्प्रदायमप्रवृत्ताः ; तथा चाथर्व्वणी श्रुतिः—'देवा ह वै प्रजापतिब्रुवन्' इत्यादि। एतेन कथायाः परमपुरुषार्थता च दर्शिता, सनकादिपरमहंसाचार्य्येणापि सेवितत्वात्। दुर्गाणि तितर्म्मीति आनुषङ्गिकफलमात्रमिति दिक् ॥५३३॥

कथैवामृतम्, अत्र हेतुः—तप्तजीवनम्। प्रसिद्धामृतादुत्कर्षमाहुः—कविभिर्ब्रह्मादिभिरपीड़ितं स्तुतं, देवभोग्यं त्वमृतं तैस्तुच्छीकृतम्। किञ्च, कल्मषापहं कामकल्मषनिरसनं तत्त्वमृतं नैवम्भूतम्। किञ्च, श्रवणमङ्गलं श्रवणमात्रेण मङ्गलप्रदं नतु तत्तदनुष्ठानापेक्षम्; किञ्च, श्रीमत् सुशान्तं, तत्तु मादकम्। एवम्भूतं त्वत्कथामृतम् आततं यथा भवति, तथा भुवि ये गृणन्ति निरूपयन्ति, ते जनाः भूरिदाः बहुदातारः जीवितं ददतीत्यर्थः। अधुना च तादृशानामलाभेन वयं मृता एवेति भावः। यद्वा, एवम्भूतं त्वत्कथामृतं ये गृणन्ति, ते भूरिदाः पूर्व्वजन्मसु बहु दत्तवन्तः परमसुकृतिन इत्यर्थः। अतो वयं तादृशादृष्टाभावेन त्वत्कथां कीर्त्तयितुमशक्ताः कथं जीवामेति भावः। यद्वा, त्वद्विरहे त्वत्कथास्फूर्त्तिविशेषेण वयं मारिता एवेत्याहुः—त्वत्कथैव मृतं मृतिः साक्षान्मरणमेव। कुतः ? तप्तं तापाभिभूतं भवति जीवनं यस्मात्, परमदाहकस्वभावस्य प्रेमविशेषस्य सद्योमृत्युजनकत्वात्। तथापि कविभिः काव्यकर्त्तृभिरेवेड़ितम्, यतः कल्मषापहम्; किञ्च, श्रवणयोर्मङ्गलं सुखकरम्; किञ्च, श्रिया मदो येषां ब्रह्मादीनां तैराततं सर्व्वतो विस्तारितम्, वस्तुतस्तु श्रवणयोरेव मङ्गलं, श्रीमदैरेवाततमिति दोषः सूचितः। अत एवम्भूतं त्वत्कथामृतं ये भुवि गृणन्ति, त एव जना भूरि बहु द्यन्ति अवखण्डयन्ति गले कर्त्तयन्तीति तथा ते। एवञ्च तत्त्वतः श्रीकृष्णकथाया महाफलविशेष एव सूचित इति दिक् ॥५३४॥

वतार कथा एवं पूतनाबधादि सुमङ्गल बाल्य-चरित्र-कथा का श्रवण कीर्त्तन इस लोक में एवं परलोक में करके मनुष्य, परमहंसगति श्रीकृष्ण में उत्कृष्ट भक्ति प्राप्त करते हैं ॥५३२॥

अतएव श्रीप्रह्लाद कर्त्तृक श्रीनृसिंह स्तुति में कथित है—हे नृसिंह ! प्रियगण के सुहृद पर देवतास्वरूप तुम्हारी विरिञ्चि गीत लीला कथा का गान करते करते तम्हारे चरणयुगलालय निवासी हंसवृन्द के अर्थात् सारासार विवेकीवृन्द के सङ्गप्राप्त लाभ से गुणातीत होकर मैं महादुःख समूह को अतिक्रम कर सकूंगा ॥ ॥५३३॥

गोपिकावृन्द की कथा में प्रकाशित है—तुम्हारे कथामृत, तापतप्त मानव का जीवन स्वरूप है, कविवृन्द के द्वारा स्तुत, पापहारी एवं श्रवणमात्र से मङ्गलप्रद है। इस प्रकार कथामृत का विस्तार पृथिवी में जिस प्रकार से हो, उस प्रकार जो कीर्त्तन करते हैं वे सब परमदाता हैं ॥५३४॥

कीर्त्तनेऽप्यत्र तज्ज्ञेयं माहात्म्यं श्रवणेऽस्य यत् ।
सिध्यति श्रवणं नूनं कीर्त्तनात् स्वमेव हि ॥५३५॥
शास्त्राभ्यासस्य चाभावे पूर्व्वेषां लोकविश्रुताम् ।
सतामाधुनिकानाञ्च कथां बन्धुषु कीर्त्तयेत् ॥५३६॥

इति श्रीगोपालभट्ट-विलिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे सत्सङ्गमो नाम
दशमो विलासः ।

ननु श्रवणस्य माहात्म्यवचनानि बहूनि लिखितानि, कथं कीर्त्तनस्याल्पतराणि ? ततोऽप्यस्य विशेषात् तत्र लिखति—कीर्त्तनेऽपीति । हि यतः नूनं निश्चितं कीर्त्तनात् स्वयमेव श्रवणं सिध्यति, श्रोत्रेण स्वकीय कीर्त्तनस्य स्वतः श्रवणात्; अतः श्रवणादपि कीर्त्तनस्य माहात्म्यविशेषोऽपि ज्ञेयः । तथाप्यल्पवचनानि प्राय कीर्त्तनमाहात्म्योक्त्या वक्तुर्माहात्म्योपपत्तेर्लज्जादिना तथानुक्तेः । श्रोतॄणां श्रवणापेक्षया बहुलकीर्त्तन योग्यत्वादिनि दिक् ॥५३५॥

शास्त्रज्ञः कीर्त्तयेदिति लिखितं, किन्तु शास्त्रज्ञत्वाभावेऽपि तथा तेन भगवत्कथाशुश्रूषुवैष्णवसमागम विशेषाभावेऽपि कदाचिदपि भगवत्कथा न परित्याज्येति लिखति—शास्त्रेति । पूर्व्वेषां पुरातनानां आधुनिकानाञ्च तत्कालीनानां सतां श्रीवैष्णवानां कथां बन्धुषु निजभ्रातृपुत्रकलत्रादिषु कीर्त्तयेत् । ननु सा कथं ज्ञेया ? तत्र लिखति—लोकविश्रुतामिति ॥५३६॥

इति दशमो विलासः ।

श्रवण विषय में जो माहात्म्य लिखा गया है, कीर्त्तन विषय में भी उसको ही जानना होगा । कीर्त्तन स्वयं ही श्रवण सम्पन्न होता है । इसमें सन्देह नहीं है ॥५३५॥

शास्त्राभ्यास का अभाव होने पर पूर्वतन साधुवृन्द की लोकविश्रुता कथा किंवा आधुनिक वैष्णववृन्द की कथा का कीर्त्तन निज भ्रातृ, पुत्र, कलत्रादि के निकट में करे ॥५३६॥

इति श्रीगोपालभट्ट विलिखिते श्रीभगवद्भक्ति विलासे सत्सङ्गमो नाम दशमोविलासः ॥

प्रथमोभागः समाप्तः ।
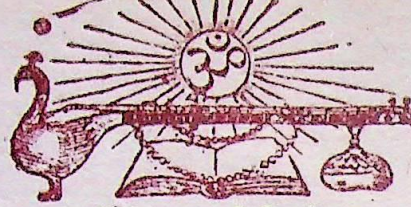
श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रीहरिदासशास्त्री सम्पादिता ग्रन्थावली

क्रम	ग्रन्थ	मूल्य
१	वेदान्तदर्शनम् "भागवतभाष्योपेतम्"	६०,००
२	श्रीनृसिंह चतुर्दशी,	२.००
३	श्रीसाधनामृतचन्द्रिका	४.००
४	श्रीगौरगोविन्दार्चन पद्धति	३.५०
५	श्रीराधाकृष्णार्चन दीपिका	२.००
६-७-८	श्रीगोविन्दलीलामृतम्	८०.५०
९	ऐश्वर्यकादम्बिनी,	५.००
१०	संकल्पकल्पद्रुम	५.००
११	चतुःश्लोकी भाष्यम्	५.००
१२	श्रीकृष्णभजनामृत	
१३	श्रीप्रेमसम्पुट,	५.००
१४	भगवद्भक्तिसार समुच्चय	५.००
१५	व्रजरीतिचिन्तामणि,	५.००
१६	श्रीगोविन्दवृन्दावनम्	१.५०
१७	श्रीराधारससुधानिधि (मूल,)	१.००
१८	,, (सानुवाद)	५४.००
१९	श्रीकृष्णभक्तिरत्नप्रकाश,	६.००
२०	हरिभक्तिसारसंग्रह	१५.००
२१	श्रुतिस्तुति व्याख्या,	२०.००
२२	श्रीहरेकृष्णमहामन्त्र	१.००
२३	धर्मसंग्रह,	४.००
२४	श्रीचैतन्य सूक्तिसुधाकर	४.००
२५	सनत्कुमार संहिता,	२.५०
२६	श्रीनामामृतसमुद्र	०.५०
२७	रासप्रबन्ध,	५.००
२८	दिनचन्द्रिका	२.००
२९	श्रीसाधनदीपिका,	१५.००
३०	चैतन्यचन्द्रामृतम्	५.००
३१	स्वकीयात्वनिरास परकीयात्वप्रतिपादन,	२०.००
३२	श्रीगौराङ्गचन्द्रोदयः,	६.००
३३	श्रीब्रह्मसंहिता	२७.००
३४	प्रमेयरत्नावली,	१३.००
३५	नवरत्न	
३६	भक्तिचन्द्रिका,	१२.००
३७	वेदान्तस्यमन्तक	१३.००
३८	श्रीभक्तिरसामृतशेषः,	५५.००
३९	दशश्लोकी भाष्यम्	२५.००
४०	गायत्री व्याख्याविवृतिः,	५.००
४१	श्रीचैतन्यभागवत	१०१.००
४२	श्रीचैतन्य मङ्गल	७५.००
४३	श्रीचैतन्यचरितामृतमहाकाव्यम्	७५.००
४४	तत्त्वसन्दर्भः,	२०.००
४५	भगवत्सन्दर्भः	३८.००
४६	परमात्मसन्दर्भः,	५०.००
४७	कृष्णसन्दर्भः	८०.००
४८	श्रीगौराङ्गविरुदावली	१८.००
४९	सत्सङ्गमः	२०.००
५०	श्रीचैतन्यचरितामृतम्	४८.००
५१	नित्यकृत्यप्रकरणम्	३०.००
५२	श्रीमद्भागवत-प्रथमश्लोक वङ्गाक्षर में मुद्रित	२५.००
५३	श्रीबलभद्र-सहस्रनामस्तोत्रम्	२.००
५४	दुर्लभसार	३.००
५५	साधकोल्लासः	१५.००
५६	भक्तिचन्द्रिका	१२.००
५७	श्रीराधारससुधानिधि (मूल,)	२.००
५८	,, (सानुवाद)	६.००
५९	भगवद्भक्तिसार समुच्चय	५.००
६०	भक्तिसर्वस्व	५.००
६१	मनःशिक्षा	५.००
६२	पदावली	१०.००
६३	श्रीसाधनामृतचन्द्रिका	४.५०

प्रकाशनरत ग्रन्थरत्न—

१। श्रीहरिभक्तिविलासः।
२। श्रीहरिनामामृत-व्याकरणम्, ३। भक्तिसन्दर्भः,
४। प्रीतिसन्दर्भः ५। श्रीचैतन्यचरितामृत
(श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी कृत)
६। अलङ्कार-कौस्तुभ (प्रभृति)